

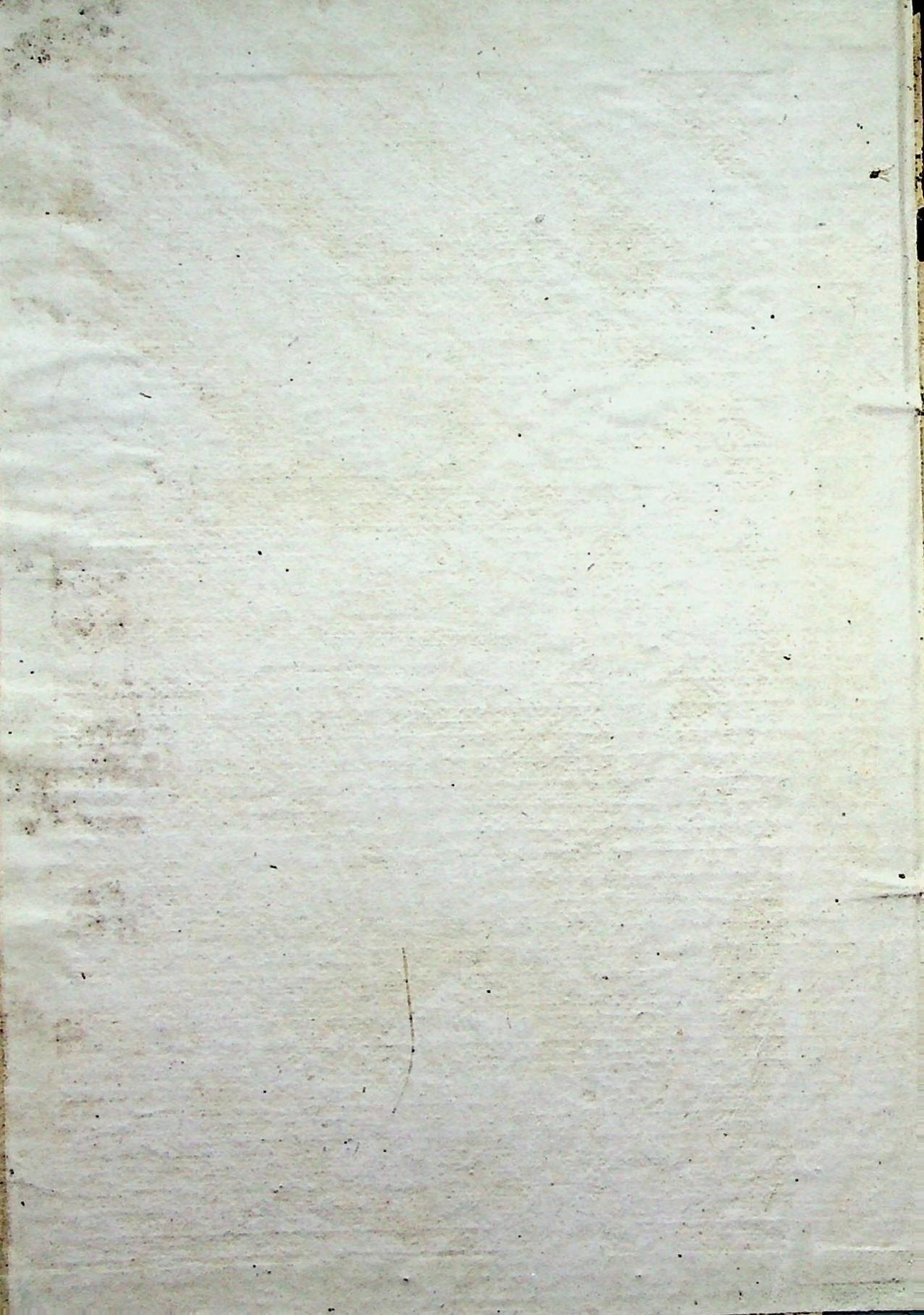
हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी



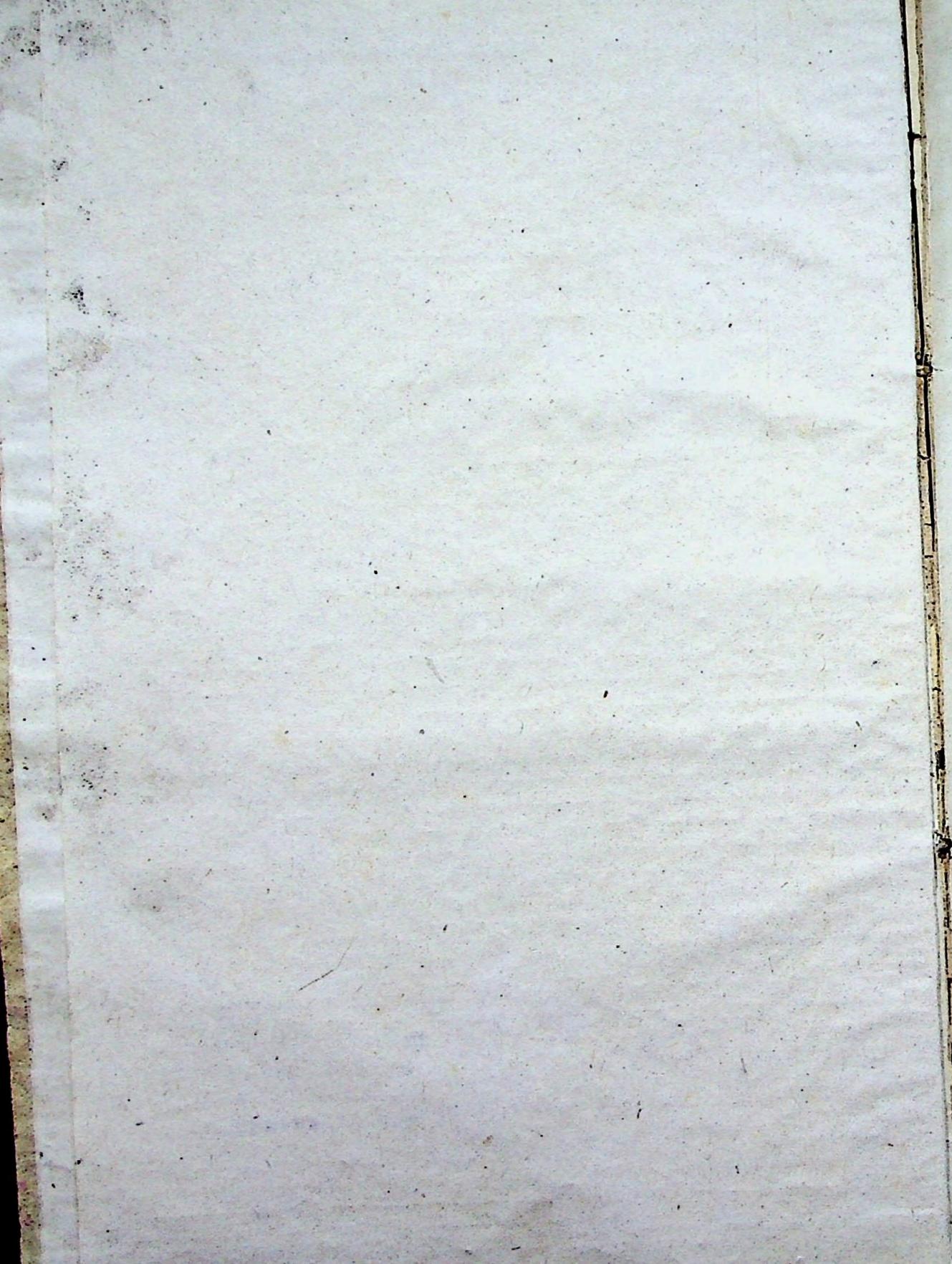
विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना - ४



223016C
5538098

बिहार बुक डिपो
सामित्र भवन, प्रथम तल
योग्यता वाली संस्कृत एवं वाय्यनी
फोटोनाटिक, लखनऊ-१०.



हिन्दौ-साहित्य का आदिकाल

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी



साहित्य-शास्त्रब्राष्ण-परिषद्
चटना-४

प्रकाशक :

विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-८००००४

⑥ विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रथम संस्करण : वि० सं० २००९, सन् १९५२ ई०

द्वितीय संस्करण : वि० सं० २०१३, सन् १९५७ ई०

तृतीय संस्करण : वि० सं० २०१८, सन् १९६१ ई०

चतुर्थ संस्करण : वि० सं० २०३६, सन् १९८० ई०

मूल्य : रु८०८८०

(२५)

मुद्रक :

श्रीकृष्णचन्द्र बिश्नोई

रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स

लंगरटोली, पटना-८००००४

Digitized by Google

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

वक्तव्य

[चतुर्थ संस्करण]

'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' के चतुर्थ संस्करण को मुखी पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। यह संस्करण भी पूर्व-संस्करण का पुनर्मुद्रण है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस ग्रन्थ के माननीय लेखक आचार्य हजारीत्रसाद द्विवेदी इस संस्करण के प्रकाशित होने के पूर्व ही दिवंगत हो गये। यही कारण है कि इस संस्करण में जो कुछ भी संशोधन-परिवर्तन किया जा सकता था, वह सम्भव नहीं हुआ। यह तो सर्वमान्य है कि आचार्य श्रीद्विवेदीजी ने इस ग्रन्थ में हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के सम्बन्ध में जो कुछ भी प्रतिपादित किया है, वह पारंगत मनीषा की एक ऐसी उपलब्धि है, जो स्वयं अपना कीर्तिमान स्थापित करती है। श्रीद्विवेदीजी की सूक्ष्मेक्षिका से साहित्य के गूढ़ तत्त्वों का आविष्करण तथा शोध की दिशा में एक नया मार्ग प्रशस्त हुआ है। अद्वितीय विद्वान् ही अब उनके द्वारा निर्देशित शोधमार्ग को ततोऽधिक आगे बढ़ाकर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करने में समर्थ हैं। साहित्य-जगत् को उन मनीषियों से अवश्य ऐसी अपेक्षा बनी रहेगी।

शोधप्रवण अनुसन्धितसु एवं अभिज्ञ पाठक पूर्व-संस्करणों के अनुसार ही इस संस्करण को भी अपनायेंगे, ऐसी आशा है।

वसन्त-पंचमी

२०३६ वि०

अतिदेव शास्त्री

निदेशक

[तृतीय संस्करण]

परम हर्ष का विषय है कि 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' के तीसरी बार पुनर्मुद्रण का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ। जिज्ञासु पाठकों ने इस पुस्तक को अधिक अपनाया और इसकी माँग उनकी ओर से बराबर बनी रही—यह इस बात का प्रमाण है कि साहित्यानु-रागियों को यह पुस्तक बेहद पसन्द आई। परिषद् के लिए यह परम सन्तोष और आनन्द की बात है।

तीसरा संस्करण निकालने के पहले हमने चाहा था कि यदि लेखक आवश्यक समझें, तो वे दूसरे संस्करण की तरह इस संस्करण के लिए भी अपेक्षित परिवर्तन-परिवर्तन कर दें। तदर्थ हमने उनकी सेवा में प्रेस-कॉपी भेजकर उनसे अभिप्राय प्रकट करते हुए अनुरोध किया। सम्भवतः, कार्याधिक्य के कारण आचार्य द्विवेदीजी हमारे अनुरोध का पालन न कर सके। परन्तु, हमारे पास इस पुस्तक की माँग इतनी इकट्ठी हो चुकी थी कि अधिक काल तक रोक रखना कठिन हो उठा। फलतः, हम ज्यों-का-त्यों इसे प्रकाशित कर रहे हैं। विश्वास है, पूर्ववत् ही इस संस्करण का भी समादार होगा, विश्वविद्यालयों में भी और उनके बाहर भी।

श्रीरामनवमी

२०१८ वि०

भवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

संचालक

[द्वितीय संस्करण]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से प्रकाशित हुई पुस्तकों में सबसे पहले यही पुस्तक (हिन्दी-साहित्य का आदिकाल) प्रकाशित हुई थी। दूसरे संस्करण का सौभाग्य प्राप्त करनेवाली पहली पुस्तक भी यही है। अतः, इसकी उपयोगिता और लोकप्रियता स्वयंसिद्ध है।

सन् १९५६ ई० के मध्य में ही यह पुस्तक अप्राप्य हो गई। प्रथम संस्करण की समाप्ति से पूर्व ही इसके संशोधन-संवर्द्धन के लिए, इसकी प्रति, आचार्य द्विवेदीजी की सेवा में भेज दी गई थी। किन्तु, वे केन्द्रीय शासन के राजभाषा-आयोग के सदस्य होकर देश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते रहे, इसलिए इसकी संशोधित एवं परिवर्द्धित प्रति बहुत विलम्ब से प्रेस में जा सकी। फलस्वरूप, पूरे नव महीने के बाद यह पुनः सुलभ हुई है।

इसका विशेष प्रचार विश्वविद्यालयों के क्षेत्र में ही हुआ है। इसके अलभ्य होने पर उस क्षेत्र के साहित्यानुशीलन-कर्त्ताओं की उत्कण्ठा का जो अनुमान हुआ, उससे यह आशा प्रतीत होती है कि निकट भविष्य में ही इसके तीसरे संस्करण का प्रकाशन भी सम्भव हो सकेगा।

इस दूसरे संस्करण के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने अपनी भूमिका के अन्तर्गत यह स्पष्ट बतला दिया है कि उन्होंने इसमें कौन-सी नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। आशा है कि उनका वह प्रयत्न पाठकों के लिए विशेष लाभदायक प्रमाणित होगा।

कितने ही जिज्ञासु पाठक प्रायः हमसे लेखक-परिचय पूछा करते हैं। ऐसे सज्जनों के लिए यह बतलाना आवश्यक जान पड़ता है कि आचार्य द्विवेदीजी उत्तरप्रदेश के 'बलिया' जिले के निवासी हैं। पहले विश्वभारती-शान्तिनिकेतन में हिन्दी-विभागाध्यक्ष थे और अब उसी पद पर काशी-विश्वविद्यालय में हैं। वहाँ की वैमासिक पत्रिका 'विश्वभारती' के सम्पादक थे, यहाँ भी काशी-नागरी-प्रचारणी सभा की वैमासिक पत्रिका के सम्पादक हैं तथा सभा के सभापति भी रह चुके हैं। उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हिन्दी-जगत् में पर्याप्त प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पा चुकी हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य से जिनका थोड़ा भी परिचय है, वे उनकी साहित्य-सेवा से कदापि अपरिचित न होंगे।

महाशिवरात्रि
संवत् २०१३ विं

शिवपूजन सहाय
संचालक

[प्रथम संस्करण]

बिहार-राज्य की सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा संस्थापित, संरक्षित और संचालित बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित होनेवाला यह सबसे पहला ग्रन्थ है—आचार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी-लिखित 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल'। इसके साथ या कुछ आगे-पीछे छह ग्रन्थ और भी प्रेस में दिये गये थे, जिनकी छपाई का क्रम नियमित रूप से चल रहा है; पर ईश्वर की कृपा से सर्वप्रथम प्रकाशित होने का श्रेय इसी ग्रन्थ को मिला,

यह बड़े हर्ष और सन्तोष की वात है; क्योंकि हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष आचार्य द्विवेदीजी हिन्दी-जगत् के परम यशस्वी साहित्यसेवी हैं और उन्हीं के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के साथ परिषद् के प्रकाशन-कार्य का श्रीगणेश हो रहा है।

परिषद् में प्रतिवर्ष कम-से-कम दो विशिष्ट विद्वानों की भाषणमाला की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक भाषण लिखित और एक सहस्र मुद्रा से पुरस्कृत तथा पाँच दिनों तक एक-एक घण्टे के व्याख्यान के रूप में समाप्त होता है। आचार्य द्विवेदीजी का यह भाषण दूसरे वर्ष की भाषणमाला का प्रथम भाषण है, जो १३ मार्च, १९५२ ई०, को पटना में परिषद् से तत्त्वावधान में हुआ था। पहले और दूसरे साल के अन्य भाषण भी यथाक्रम शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। उनके प्रकाशित हो जाने पर ही यह विदित हो सकेगा कि परिषद् के द्वारा आयोजित भाषणमाला का साहित्यिक महत्व क्या है और उससे हिन्दी-साहित्य कहाँतक समृद्ध हो सकता है। उक्त भाषणों के अतिरिक्त कई स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ भी प्रकाशित होंगे। परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलाल मण्डल बड़ी लगन से उनके प्रकाशन में तत्पर हैं, जो उनका कर्तव्य ही है।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल अवतक प्रायः अन्धकार के आवरण से ढका-सा रहा है। इस आवरण को हटाकर अन्धकार में प्रकाश फैलाने का प्रथम प्रयत्न सम्भवतः आचार्य द्विवेदीजी ने ही किया है। उनका यह शुभ प्रयत्न कहाँतक सफल हुआ है, इसका यथार्थ निर्णय विद्वत्-समाज ही कर सकेगा। हमें विश्वास है कि उनका यह सत्प्रयास उनको महान् गौरव प्रदान करेगा, और इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक युग को अन्धकार से प्रकाश में लाने के श्रेय का कुछ अंश इस परिषद् को भी प्राप्त होगा।

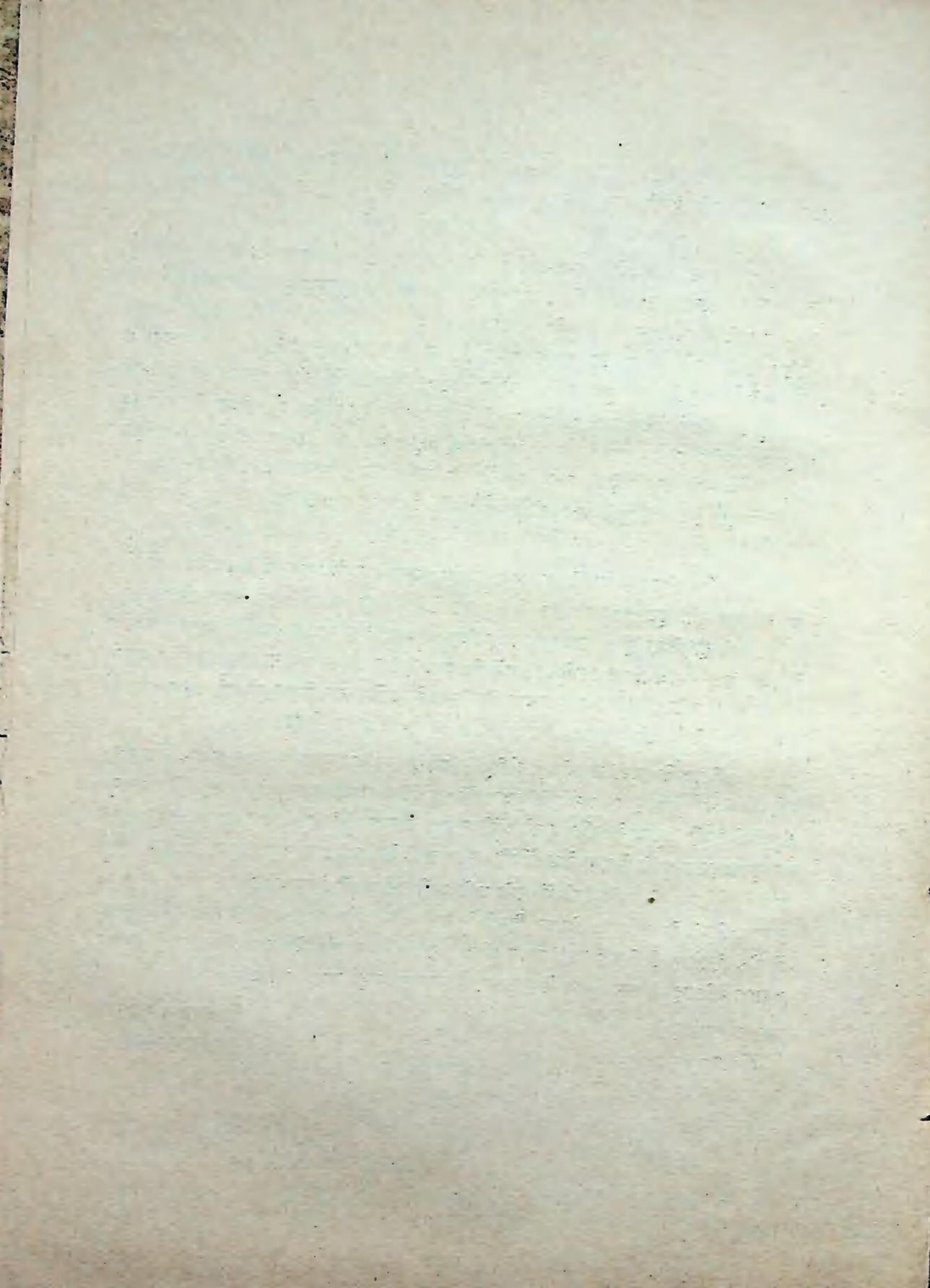
परिषद् के द्वारा प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थों का आकार-प्रकार एक-सा रखने का निश्चय किया गया है। ग्रन्थों के मुद्रण में शब्दों की एकरूपता को भी रक्षित रखना हिन्दी-हित की दृष्टि से परिषद् को अभीष्ट है; किन्तु परिषद् को यह अभीष्ट नहीं है कि वह दुराग्रहवश अपने विद्वान् लेखकों की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे। इसी कारण इस ग्रन्थ की लिपि-शैली में इसके अधिकारी लेखक की इच्छा को ही प्रधानता दी गई। जबतक हिन्दी के सर्वमान्य विद्वान् हिन्दी में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों की एकरूपता के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त नहीं करते और वह सिद्धान्त लोकप्रियता प्राप्त नहीं करता, तबतक परिषद् भी इस विषय में बरवस कोई आग्रह नहीं करना चाहती।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी

सं० २००९

अगस्त, १९५२ ई०

शिवपूजन सहाय
परिषद्-मन्त्री



भूमिका

[द्वितीय संस्करण]

‘हिन्दी-साहित्य का आदिकाल’ दूसरी बार छपकर प्रकाशित हो रहा है। यह पुस्तक ‘विहार-राष्ट्रभाषा-परिपद’ के तत्त्वावधान में दिए गए पांच व्याख्यानों का संग्रह है।

उस समय मेरे मन में हिन्दी के आरम्भिक साहित्य के सम्बन्ध में जो उलझनें थीं और उनका जो समाधान समझा था, उसे विद्वानों के सामने यथासम्भव स्पष्ट भाषा में मैंने कह दिया था। प्रकाशित होने के बाद विद्वन्मण्डली का ध्यान इस पुस्तक की ओर आकर्षित हुआ और इसकी अनुकूल-प्रतिकूल चर्चाएँ हुईं।

जो आलोचनाएँ मुझे देखने को मिलीं, उनकी सहायता से मैंने भरसक अपनी जानकारी को ठीक करने का प्रयत्न किया। मुझे इस बात से कुछ सन्तोष है कि विद्वानों ने मेरे विचारों को महत्व दिया और ऐसे सुझाव दिए जो उन्हें उचित जान पड़े।

कई सुझावों से मैं अपने को बहुत लाभान्वित नहीं कर सका; क्योंकि वे प्राप्त प्रमाणों के आधार पर युक्ति-संगत नहीं जैंते। परन्तु, कुछ सुझाव स्वीकार-योग्य जान पड़े। यथास्थान मैंने इस दूसरे संस्करण में इनका उपयोग किया है।

कई मित्रों ने सलाह दी कि जिन अपभ्रंश-पदों की व्याख्या व्याख्यानों में नहीं आ सकी हो, उनका हिन्दी-भाषान्तर दे दिया जाय। इस संस्करण में मैंने उनकी सलाह मान ली है। परन्तु, जहाँ केवल भाषाविषयक उदाहरण देने के लिए एकाध पंक्तियाँ उद्भूत की गई हैं, उनका अनुवाद छोड़ दिया गया है। इन पंक्तियों का उद्देश्य केवल भाषा-सम्बन्धी वैशिष्ट्य का उदाहरण प्रस्तुत करना था और वह उद्देश्य अनुवाद दिए विना भी सिद्ध हो जाता है; परन्तु ऐसे स्थलों पर भी जहाँ पूरे पद्य उद्धृत किए गए हैं, उनका भी भाषान्तर दे दिया गया है।

इस प्रकार, इस दूसरे संस्करण में थोड़ी-सी नवीनता आ गई है। जिन विद्वानों ने उस पुस्तक की आलोचना की है, उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

विहार-राष्ट्रभाषा-परिपद ने पुस्तक के दूसरे संस्करण में भी उतनी ही रुचि और तत्परता दिखलाई है, जितनी प्रथम संस्करण में दिखलाई थी।

इस दूसरे संस्करण का प्रूफ मैं नहीं देख सका; इसलिए कदाचित् कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों। गुणज्ञ पाठक उन्हें सुधार लें।

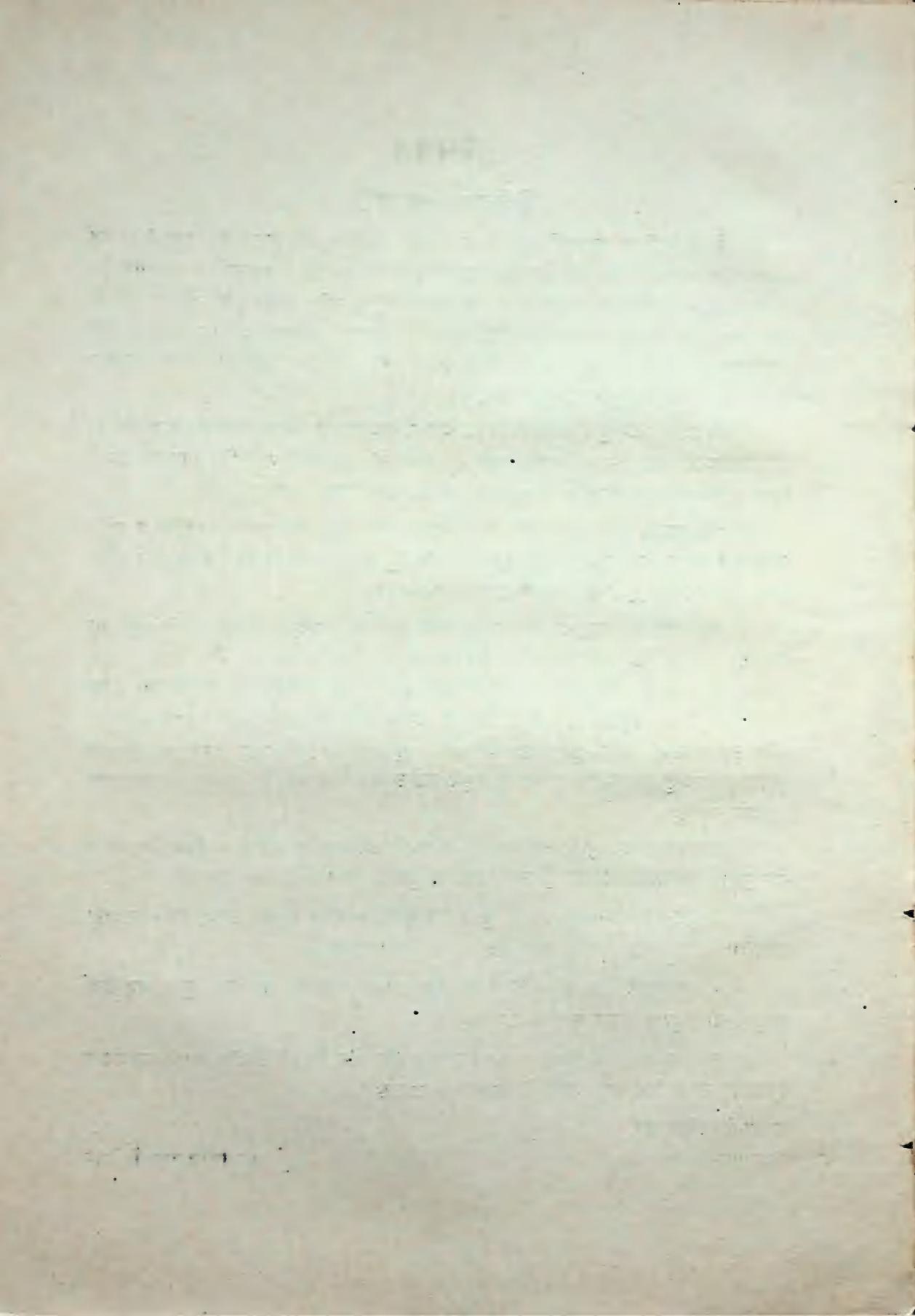
परिषद् के अधिकारियों ने जिस उत्साह और प्रेम से इसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया है, उसके लिए किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ।

काशी-विश्वविद्यालय

फाल्गुन-शिवरात्रि

सं० २०१३

हजारीप्रसाद द्विवेदी



विषय-सूची

प्रथम व्याख्यान	१—२५
द्वितीय व्याख्यान	२६—५३
तृतीय व्याख्यान	५४—७३
चतुर्थ व्याख्यान	७४—९६
पंचम व्याख्यान	९७—१२०
अनुक्रमणिका	१२१—१३१



सम्मतियाँ

डॉ० अमरनाथ ज्ञा :

'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' वडे गूल्य की है। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक समय का इसमें बहुत ही सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है।

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुज्यर्या :

निस्सन्देह, यह पुस्तक अमूल्य है। वास्तव में, यह हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति और विकास पर विशद प्रकाश डालती है। इससे शोध-सम्बन्धी विद्वान् अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा :

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के सम्बन्ध में इसमें बहुत-सी नवीन सामग्री है।

डॉ० नगेन्द्र :

यह ग्रन्थ हमारे आदिकाल के सम्बन्ध में अनेक समस्याओं का समाधान करता है, अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन करता है और उस बीहड़ में प्रवेश करने के लिए नवीन सरणियों का निर्देशन करता है।

डॉ० रघुवंश :

हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इस अध्ययन का बहुत अधिक महत्त्व है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी :

इस पुस्तक में लेखक की सूक्ष्म विवेचन-शक्ति और ऐतिहासिक गवेषणा के प्रमाण मिलते हैं। यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास के जिजासुओं के लिए बड़ी ही उपयोगी है।

प्रथम व्याख्यान

मित्रों,

मैं विहार-राष्ट्रभाषा-परिपद के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिसने मुझे हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के 'काव्यरूपों' के उद्भव और विकास की कहानी कहने का अवसर दिया है। यह काल नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधी और स्वतोव्याधातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए, जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए, जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में, अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में, अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। श्रीहर्ष के नैपथ्यचरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंश दोहों की तुलना करने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली व्याचारों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी तरफ निरक्षर सन्तों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में वोया गया। आगे चलकर हम विस्तारपूर्वक इन बातों की चर्चा करने का अवसर पायेंगे। संक्षेप में इतना जान लेना यहाँ पर्याप्त है कि यह काल भारतीय विचारों के मन्थन का काल है और इसीलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य के इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है, तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में इस साहित्य के वास्तविक रूप का अन्दाजा लगाने में सहायता करने योग्य बहुत-सी नई सामग्री प्रकाशित हुई है और अब आशा की जानी चाहिए कि हमारे साहित्य का रूप अधिक साफ और सुदृश्य हो सकेगा। इस विषय पर मैंने जो कुछ थोड़ा सोचा-समझा है, उसे आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

आज से कोई अड़सठ वर्ष पूर्व सन् १८८३ ई० में शिवर्सिंह सेंगर ने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक ढाँचा तैयार करने का प्रयास किया था। इस प्रयत्न के कोई छह वर्ष बाद सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डॉ० (बाद में सर) जार्ज ग्रियर्सन ने अँग्रेजी में एक ऐसा ही प्रयत्न किया। उनकी पुस्तक का नाम है—‘मॉडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर अॅव नॉर्दन्स हिन्दुस्तान’। ये दोनों पुस्तकों बहुत थोड़ी सामग्री के आधार पर लिखी गई थीं। इनमें कवियों और रचनाओं के विवरण संग्रह कर दिये गये थे; पर उनको किसी एक ही जीवन्त प्रवाह के चिह्नरूप में देखने का प्रयत्न नहीं था। उन दिनों यह बात

सम्भव भी नहीं थी। इतस्ततो विक्षिप्त संयोगलब्ध पुस्तकों और सूचनाओं के आधार परं विचार-प्रवाह की अविरल और अविच्छिन्न विचारधारा को खोज निकालना सम्भव नहीं था। अपने उत्कृष्ट रूप में वह अटकल की बात होती और निकृष्ट रूप में गलत नतीजे तक ले जानेवाली। स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने इन पुस्तकों को 'कविवृत्तसंग्रह' कहकर इनका बहुत ठीक परिचय दिया था। ईसवी-सन् की उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से काशी की सुप्रसिद्ध 'नागरी-प्रचारिणी सभा' ने पुराने हिन्दी-ग्रन्थों की खोज का कार्य शुरू किया और थोड़े ही दिनों में सैकड़ों अज्ञात कवियों और ग्रन्थों का पता लगा लियां। सभा की खोज-रिपोर्टों के आधार पर मिश्रवन्धुओं ने सन् १९१३ ई० में 'मिश्रवन्धु-विनोद' नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, जो अपनी समस्त दृष्टियों और खामियों के बाबूद अत्यन्त उपादेय है। लेकिन है यह भी कविवृत्तसंग्रह ही।

हिन्दी-साहित्य का सचमुच ही क्रमबद्ध इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका' के रूप में सन् १९२९ ई० में प्रस्तुत किया। बाद में यह कुछ परिवर्द्धन के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। शुक्लजी ने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य के इतिहास को कविवृत्तसंग्रह की पिटारी से बाहर निकाला। पहली बार उसमें श्वासोच्छ्वास का स्पन्दन सुनाई पड़ा। पहली बार वह जीवन्त मानव-विचार के गतिशील प्रवाह के रूप में दिखाई पड़ा। दृष्टियाँ इसमें भी हैं। 'वृत्तसंग्रह' की परम्परा उसमें समाप्त नहीं हुई है और साहित्य को मानव-समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर केवल 'शिक्षित समझी जानेवाली जनता' की प्रवृत्तियों के परिवर्त्तन-विवर्तन के निर्देशक के रूप में देखा गया है। शुक्लजी की यह विशेष दृष्टि थी और इस दृष्टि-भंगिमा के कारण उनके इतिहास में भी विशिष्टता आ गई है। जिन दिनों उन्होंने इतिहास लिखने का कार्य शुरू किया था, उन दिनों वे अनुभव करने लगे थे कि कविवृत्तसंग्रहों से काम नहीं चल सकता। "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य में जो-जो परिवर्त्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं उनके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।" इस प्रकार, सन् १९२९ ई० में पहली बार शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों के अनुसार होनेवाले परिवर्त्तन के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के काल-विभाजन का प्रयास किया गया। उनकी दृष्टि व्यापक थी। उन्होंने अपने इतिहास के पुस्तक-रूप में प्रकाशित प्रथम संस्करण में आदिकाल के भीतर अपभ्रंश रचनाओं को भी ग्रहण किया था। "क्योंकि वे सदा से भाषा-काव्य के अन्तर्गत मानी जाती रहीं। कवि-परम्परा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे भाषा-कवियों के नाम गिनाती चली आई है, जो अपभ्रंश में हैं—जैसे कुमारपालचरित और शार्ङ्गधर-कृत हम्मीररासो।" इसके पूर्व ही प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पं० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के नवीन संस्करण (भाग २) में बहुत जोर देकर बताना चाहा था कि अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' ही कहना चाहिए। उनका यह निबन्ध अब 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की ओर से पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हो गया है। गुलेरीजी ने तत्काल प्राप्त अपभ्रंश-रचनाओं का बड़ा सुन्दर विवेचन किया था, परन्तु प्रधान रूप से हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरण-रूप में आये हुए

दोहों तथा 'प्रवन्धचिन्तामणि' तथा 'कुमारपालप्रतिवोध' में संगृहीत दोहों का ही उल्लेख किया था। इन पुस्तकों के बाहर वे बहुत कम गये। शाङ्कधर्म-पद्धति में प्राप्त हुए कुछ अपभ्रंश-वाक्यों का उल्लेख उन्होंने अवश्य किया। उन दिनों अपभ्रंश की बहुत थोड़ी ही रचनाएँ उपलब्ध थीं। वस्तुतः गुलेरीजी के स्वर्गवास के बाद अपभ्रंश की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त होने लगीं। हिन्दी-साहित्य का यह अत्यन्त भयंकर दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि गुलेरीजी-जैसा पारखी भाषाविद् और साहित्य-रसिक अपभ्रंश की उस समस्त सामग्री को देखने का अवसर नहीं पा सका, जो आज उपलब्ध है। गुलेरीजी भाषा के पारखी थे; संस्कृत, प्राकृत आदि साहित्यों के जानकार थे और सच्चे रसमर्जन थे। अत्यन्त अल्प अवस्था में वे महाकाल के दरवार में बुला लिये गये !

गुलेरीजी के जीवित काल में यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य का बहुत अधिक प्रकाशन नहीं हुआ था, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस भाषा और साहित्य के विषय में कुछ चर्चा हुई ही नहीं थी। गुलेरीजी के प्रवन्ध में ऐसी कई रचनाओं के सम्बन्ध में चर्चा नहीं मिलती, जिनका प्रकाशन उनके जीवन-काल में हो चुका था। सम्भवतः उनको समय नहीं मिला और वे प्रवन्ध को आगे नहीं बढ़ा सके। बीच में ही सब-कुछ को छोड़कर उन्हें चल देना पड़ा। शुक्लजी ने गुलेरीजी के अध्ययनों का उपयोग किया; परन्तु व्यापक दृष्टि रखते हुए भी उन्हें उन रचनाओं को देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ, जो गुलेरीजी से छूट गई थीं।

यह तो पहले ही कहा गया है कि सन् १८८३ ई० में हिन्दी-साहित्य के इतिहास की प्रथम रूपरेखा तैयार की गई थी। इसके कई वर्ष पूर्व सन् १८७७ ई० में सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन पं० पिशेल ने जर्मनी के 'हाल' नगर से हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण का बहुत अच्छा सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया था। आज भी यह ग्रन्थ भाषाशास्त्रियों के लिए उतना ही महत्वपूर्ण बना हुआ है, जिनना कभी भी था। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के अन्त में अपभ्रंश-भाषा का व्याकरण दिया है और उदाहरण बनाने के लिए ऐसे पूरे दोहे उद्धृत किये हैं, जिनमें वे पद आये हैं। पिशेल ने अन्य प्राकृतों के साथ अपभ्रंश का भी विवेचन किया था। बाद में केवल अपभ्रंश अंश को लेकर उन्होंने एक विस्तृत विवेचनात्मक पुस्तक लिखी। भामह और दण्डी (सप्तम शताब्दी) के समय में, अपभ्रंश का साहित्य वर्तमान था। बाद के रुद्रट, राजशेखर, भोज आदि आलंकारिकों ने भी अपभ्रंश की चर्चा की है। इसलिए यह तो पिशेल ने अनुमान कर ही लिया था कि अपभ्रंश का बहुत विपुल साहित्य इस देश में वर्तमान था, परन्तु इस भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में कठिन परिश्रम के साथ पुस्तक तैयार करने के बाद भी उन्हें इस बात का दुःख था कि अपभ्रंश का विपुल साहित्य खो गया है। फिर भी, उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य की रचनाओं को खोजने में कोई बात उठा नहीं रखी। हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों के अतिरिक्त उन्होंने विक्रमोर्वशीय, सरस्वतीकण्ठाभरण, वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वार्विशतिका और प्रवन्ध-चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में पाये जानेवाले अपभ्रंश-पद्यों को तथा प्राकृतपैঞ্জলম् में उदाहरण-रूप से उद्धृत कविताओं को ढूँढ़ निकाला। सन् १९०२ ई० में उन्होंने 'माटेरियालियन् सुर केण्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक पुस्तक को अपने प्राकृत-व्याकरण का परिशिष्ट कहकर

प्रकाशित किया। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि थे। सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी ने इस पण्डित की अपूर्व कृतियों को देखकर उल्लास के साथ कहा है कि 'यह महाविद्वान् 'पाणिनि-स्मृत आपिशल नामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नहीं था !' मुचिजी ने 'पउमसिरीचरित' नामक अपभ्रंश-काव्य की प्रस्तावना में अपभ्रंश-साहित्य के प्रकाश में थाने की मनोरंजक घटना का वृत्तान्त दिया है। सचमुच ही अपभ्रंश की रचनाओं का पाया जाना हमारे देश के साहित्यक इतिहास में उल्लिङ्करण नहीं है।

वहुत दिनों तक पिशेल का यह मत दुहराया जाता रहा कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम खो गया है। गुणे, वनर्जी, शास्त्री आदि ने वहुत बाद तक भी इसी मत को दुहराया। गुलेरीजी को कुमारपालप्रतिबोध को देखने का अवसर मिल गया था, परन्तु विश्वास उनका यही था कि अपभ्रंश-भाषा का साहित्य प्रायः लुप्त हो चुका है। कुछ रचनाएँ तो उनके जीवितकाल में प्रकाशित भी हो चुकी थीं; पर उनकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका था। सन् १९१३-१४ ई० में डॉ० हरमन याकोबी नामक जर्मन पण्डित इस देश में आये। जैनशास्त्रों के अध्ययन में इन्हें यश प्राप्त हो चुका था। अहमदावाद के जैन-भाण्डार का निरीक्षण करते हुए इन्हें एक साधु के पास 'भविसयत्तकहा' नामक पुस्तक देखने को मिली। देखकर वे फड़क उठे। यह अपभ्रंश का काव्य था। उन्होंने वड़ी कठिनता से उस पुस्तक की प्रतिलिपि कराई और उसका फोटो लिया। फिर उन्हें राजकोट के एक अन्य जैनमुनि के पास 'नेमिनाथचरित' प्राप्त हुआ। जब याकोबी अपने देश को लौटे, तब योरप का प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और उनके द्वारा प्राप्त ग्रन्थों का प्रकाशन रुक गया। सन् १९१८ ई० में म्यूनिक की रॉयल एकेडेमी ने याकोबी द्वारा सम्पादित 'भविसयत्तकहा' प्रकाशित की। इसके कोई तीन वर्ष बाद अपभ्रंश की दूसरी रचना 'नेमिनाथचरित' में से एक अन्तःकथा—'सण्कुमारचरित'—लेकर उसे सम्पादित करके प्रकाशित किया। ये दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रम से सम्पादित हुए थे। इधर वड़ोदा के महाराज सर सयाजी राव गायकवाड़ की आज्ञा से सन् १९१४ ई० में श्रीचिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के जैनग्रन्थ-भाण्डार की हजारों पुस्तकों की परीक्षा के उपरान्त कई अपभ्रंश-पुस्तकों का पता लगाया, जिनमें मुख्य ये हैं—सन्देशरासक, वज्रस्वामिचरित, अन्तरंगसन्धि, चौरंगसन्धि, सुलसाख्यान, चच्चरी, भावनासार, परमात्मप्रकाश, आराधना, मयणरेहासन्धि, नंमयासुन्दरि-सन्धि, भविसयत्तकहा, पउमसिरीचरित इत्यादि (स्थूलाक्षरांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं)। श्रीदलाल ने 'भविसयत्तकहा' का सम्पादन भी आरम्भ किया था, पर सन् १९१८ ई० में उनका अचानक स्वर्गवास हो गया। बाद में स्वर्गीय पाण्डुरंग गुणे ने इस कार्य को पूरा किया। यह संस्करण भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। फिर तो बाद में और भी वहुत-सी अपभ्रंश-पुस्तकों का पता चला। वहुत-से ग्रन्थ-भाण्डारों में इन पुस्तकों की भाषा को प्राकृत समझ लिया गया था और इस प्रकार वे उपेक्षित बनी रहीं। जब सन् १९१८ ई० में 'भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट' की स्थापना हुई और डैकन कॉलेज में सुरक्षित प्रतिर्थी उस संस्था में लाई गई तो सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी ने जैनग्रन्थों का अवलोकन और परीक्षण किया। उस समय उन्हें अनेक महत्त्व-पूर्ण अपभ्रंश-ग्रन्थों का पता लगा। 'पुष्पदन्त' या 'पुष्पदन्त' का 'तिसट्टिलक्खण महापुराण',

स्वयम्भू का 'पउमचरित', 'हरिवंशपुराण' आदि पुस्तकों प्राप्त हुईं। उन्हीं दिनों हिन्दी-जगत् के सुपरिचित विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमी ने जैन-साहित्य-संशोधक नामक लैभासिक पत्र में 'पुष्पदन्त और उनका महापुराण' नामक महत्वपूर्ण लेख लिखा। उन्होंने अपश्रंश-ग्रन्थों के बारे में और भी कई महत्वपूर्ण लेख लिखे, जो अब 'जैन-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में संगृहीत हो गये हैं। प्रेमीजी ने 'जसहरचरित', 'णायकुमारचरित' नामक दो और अपश्रंश-ग्रन्थ खोज निकाले। फिर प्रोफेसर हीरालालजी जैन ने कारंजा के जैन-भाण्डार से करकण्डुचरित, सावयधम्मदोहा, पादुडोहा आदि कई ग्रन्थों को खोज निकाला और सम्पादित करके उन्हें प्रकाशित भी कराया। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने स्वयम्भू और पुष्पदन्त की हस्तलिखित पोथियों से संग्रह करके कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ अपने 'काव्यधारा' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित की हैं। इधर कई विद्वानों ने इस साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है, जिसमें श्रीमुनिजिनविजय, आदिनाथ उपाध्ये, डॉ हीरालाल, डॉ परशुराम वैद्य, पं० लालचन्द्र गान्धी, डॉ जगदीशचन्द्र जैन और डॉ ऑल्सडोर्फ प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। इन विद्वानों के परिचय से अनेक अपश्रंश-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और अब यह नहीं कहा जा सकता कि अपश्रंश का सहित्य एकदम लुप्त हो गया है।

सन् १९५० ई० में श्रीकस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम० ए०, शास्त्री के सम्पादकत्व में आमेर-शास्त्रभाण्डार (जयपुर) के ग्रन्थों का एक प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें लगभग ५० अपश्रंश-ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ संगृहीत हैं। इनमें कुछ का तो विद्वानों को पहले से भी पता था, कुछ नई हैं। इनमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, वीर, नयनन्दि, श्रीधर, श्रीचन्द्र, हरियेण, अमरकीर्ति, यशःकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति, माणिक्यराज, और रइधू आदि की कृतियाँ हैं। अधिकांश रचनाएँ १३वीं शताब्दी के बाद की बताई गई हैं, पर उसके बाद भी १६वीं शताब्दी तक अपश्रंश में रचनाएँ होती रही हैं। इस प्रशस्ति-संग्रह के रइधू, यशःकीर्ति, धनपाल, श्रुतकीर्ति और माणिक्यराज चौदहवीं और उसके बाद की शताब्दियों के कवि हैं।

ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भाण्डारों में ही प्राप्त हुए हैं और अधिकांश जैनकवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः ही इनमें जैनधर्म की महिमा बताई गई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन विताने का उपदेश दिया गया है। परन्तु, इस कारण से इन पुस्तकों का महत्व कम नहीं हो जाता। परवर्ती हिन्दी-साहित्य के काव्य-रूप के अध्ययन में ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं।

किन्तु, यह नहीं समझना चाहिए कि जैनेतर मूलों से अपश्रंश का साहित्य एकदम मिला ही नहीं। सन् १९०२ ई० में ही चन्द्रमोहन घोप ने 'प्राकृतपैञ्चलम्' नामक छन्दोविधान के ग्रन्थ का सम्पादन समाप्त किया था। इसका प्रकाशन विविधोथिका इण्डिका सिरीज में हुआ। इसमें बहुत-सी अपश्रंश-कविताएँ उदाहरण-रूप में संगृहीत हैं। यद्यपि बहुत पहले ही पिशेल ने इस पुस्तक में संगृहीत कविताओं पर विचार किया था, फिर भी दीर्घकाल तक पुराने हिन्दी-साहित्य की आलोचना के प्रसंग में इस ग्रन्थ की उपेक्षा ही होती रही। बहुत बाद में जाकर आचार्य रामचन्द्र शुकलजी ने इस पुस्तक में संगृहीत रचनाओं का उपयोग किया था।

सं० १३२३ वंगाब्द, अर्थात् सन् १९१६ ई० में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद

शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकों प्रकाशित कराई। इन पुस्तकों की भाषा को उन्होंने प्राचीन वँगला कहा। पुस्तक नाना दृष्टियों से वहुत महत्वपूर्ण थी; परन्तु जान पड़ता है कि वंगाक्षरों में छपी होने के कारण हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इसकी ओर उस समय आकृष्ट न हो सका। इसके दोहों की भाषा में परिनिष्ठित या स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं; पर पदों में पूर्वी प्रदेश की भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को वँगला का पूर्वरूप कहा गया है, तो कभी मैथिली और मगही का और कभी भोजपुरी का। कुछ लोगों ने इसमें उड़िया-भाषा का पूर्वरूप भी देखा है। निःसन्देह हिन्दी-साहित्य के परवर्ती काव्य-रूपों के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त ही उपादेय है। इस पुस्तक के प्रकाशन के करीब दीस वर्ष वाद, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इन रचनाओं की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। अपनी तिव्वत-यात्रा में वे इस श्रेणी के कुछ और साहित्य का भी पता पा चुके थे। राहुलजी ने बताया कि इन पदों की भाषा को वँगला नहीं, हिन्दी कहना चाहिए। राहुलजी के इस मत का समर्थन और विरोध काफी मात्रा में हुआ। हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी उससे थोड़ा-बहुत परिचित ही है। इसलिए उस विवाद में पड़ने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। जो वात निःसन्दिग्ध है, वह यह है कि इस पुस्तक की भाषा में भारतवर्ष के पूर्वी प्रदेशों की भाषा के लक्षण मिल जाते हैं। उसकी इस भाषा को वँगला, मगही, मैथिली, भोजपुरी, उड़िया सभी का पूर्वरूप कहा जा सकता है। ध्यान देने की वात यह है कि इन पुस्तकों में जिन काव्य-रूपों का परिचय मिलता है, वह वँगला में अब लुप्त हो चुके हैं; परन्तु हिन्दी में अभी तक जी रहे हैं। दोहों की प्रथा वँगल के साहित्य में कभी रही ही नहीं और सही वात तो यह है कि वँगला-भाषा की एक ऐसी उच्चारणगत विशिष्टता है कि दोहा छन्द उसमें जम ही नहीं पाता। मैं यह तो नहीं कहता कि वँगल का कोई कुशल कवि चाहे तो भी वँगला को दोहे छन्दों में ढाल ही नहीं सकता, परन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि वँगला-भाषा की प्रकृति दोहा के अनुकूल नहीं है।

बौद्ध गानों में भी जिस श्रेणी की पदरचना है, वह आगे चलकर कवीर आदि सन्तों की रचनाओं में अधिक मुखर हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वँगला-भाषा में उसका चिह्न ही नहीं मिलता; परन्तु वह अधिक लोकप्रिय वँगल के बाहर ही हुई। वँगला की वैष्णवपदावली में उसका एक रूप प्राप्त अवश्य होता है। साधारण वँगला से फर्क करने के लिए इसे 'ब्रजबुलि' कहा जाता है। शायद यह इस वात का प्रमाण है कि वैष्णव कवियों ने यह समझ लिया था कि इस प्रकार की पदरचना वँगला-भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोहा और पदों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से हिन्दी-साहित्य में चली आई है और काव्य-रूपों और विचार-प्रवाह की दृष्टि से इन गानों और दोहों का सम्बन्ध परवर्ती हिन्दी-साहित्य से ही अधिक है। भाषा की दृष्टि से वह जो कुछ भी क्यों न हो।

सन् १९१८ ई० और सन् १९२१ ई० के जनरल ऑफ डिपार्टमेण्ट ऑफ लेटर्स (कलकत्ता-विश्वविद्यालय) में डॉ० प्रबोधचन्द्र वागची ने कुछ और बौद्ध सिद्धों के दोहे प्रकाशित कराये। वाद में पुस्तकाकार में भी इनका संकलन प्रकाशित हुआ।

इधर सन् १९४५ ई० में राहुलजी ने 'हिन्दी-काव्यधारा' नाम से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश-काव्यों का संग्रह प्रकाशित कराया है। उनके मत से यह अपभ्रंश वस्तुतः पुरानी हिन्दी ही है। इसमें उन्होंने प्रथम बार स्वयम्भू के रामायण की उस हस्तलिखित प्रति से, जो भाण्डारकर-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है और अब अंशतः प्रकाशित हो चुकी है, कवित्वपूर्ण अंशों का संकलन प्रकाशित कराया है और बहुत जोर देकर कहा है कि स्वयम्भू हिन्दी का सर्वोत्तम कवि है। दूसरा स्थान उन्होंने पुष्पदन्त को दिया है। मेरा अनुमान है कि यह पुष्पदन्त हिन्दी के पुराने इतिहासकारों के निकट परिचित थे। शिवसिंह ने टाड के राजस्थान के आधार पर लिखा था कि "संवत् सात सौ सत्तर विक्रमादित्य में राजा मान अवन्तीपुरी का बड़ा पण्डित और अलंकार-विद्या में अद्वितीय था। उसके पास पुष्पभाट ने प्रथम संस्कृत-ग्रन्थ पढ़ पीछे भाषा में दोहा बनाये। हमको भाषा की जड़ यही कवि मालूम होता है।" जान पड़ता है, पुष्पदन्त जिस राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज के आश्रित थे, उनकी राजधानी 'मान्यखेट' पर से राजा का नाम 'मान' समझ लिया गया है और सभाकवि होने के कारण उन्हें भाट कह दिया गया है। जो हो, राहुलजी की इस दृढ़कण्ठ घोषणा के कारण हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान अपभ्रंश की ओर खिचा है। राहुलजी के प्रयत्नों का यह शुभ परिणाम है। राहुलजी ने इन कवियों की रचनाएँ अपने संग्रह में उद्धृत की हैं और इनकी भाषा को पुरानी हिन्दी माना है :

आठवीं शती	नवीं०	दसवीं०	यारहवीं०	वारहवीं०	तेरहवीं०
संरहपा	लुइपा	देवसेन	एक अज्ञात कवि	हेमचन्द्र	लक्खण
सवरपा	विरूपा	तिलोपा	अब्दुर्रहमान	हरिभद्र	जजल
स्वयम्भू	डोम्बिपा	पुष्पदन्त	बब्वर	अज्ञात कवि	अज्ञात
भूमुक्षुपा	दारिकपा	शान्तिपा	कनकामरमुनि	आमभट्ट	अपदेवसूरि
	गुण्डरीपा	योगीन्दु	जिनदत्त सूरि	शालिभद्र	हरित्रहा
	गोरक्षपा	रामसिंह		विद्याधर	दो अज्ञात कवि
	टेण्टणपा	घनपाल		सोमप्रभ	राजशेखर सूरि
महीपा				जिनपद्म	
भादेपा				विनयचन्द्र	
धामपा				चन्द्र	

१. राष्ट्रकूट-वंश का राजा कृष्ण (त्रृतीय) बहुत ही पराक्रमी राजा था। उसका राज्य मालवा और गुजरात तक फैला हुआ था। परमारों के राजा सीयक (श्रीहर्ष) ने कभी इसके विरुद्ध विद्रोह किया था; किन्तु कृष्ण जबतक जीति था, तबतक परमारों को उसने सिर नहीं उठाने दिया। मार्सिंह कृष्ण का, उत्तरी सेना का प्रधान सेनापति था। हेली केरटी के शिलालेखों (सन् ९६५-९७८) में इस मार्सिंह के अधीनस्थ एक सैनिक को 'उज्जयिनी-भुजंग' कहा गया है। इससे भी पता चलता है कि उज्जयिनी पर मान्यखेट (मान ?) का शासन था। हो सकता है कि बाद में मान के कवि 'पुष्प' का यश मात्र अवशिष्ट रह गया हो और पूरी कहानी भूला दी गई हो। परन्तु यह अनुमान-ही-अनुमान है।

इनमें से कुछ थोड़े से कवियों की चर्चा हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने पहले भी की थी, परन्तु अधिकांश हिन्दी-साहित्य में अपरिचित ही थे।

बहुत पहले ग्रियर्सन ने अपनी एक पुस्तक में सूचना दी थी कि विद्यापति की दो रचनाएँ देश-मिश्रित अपभ्रंश-भाषाओं में हैं : एक का नाम है—कीर्त्तिलता और दूसरी का कीर्त्तिपताका। इनमें से कीर्त्तिलता को नेपाल-दरवार-लाइब्रेरी से संग्रह करके महामहो-पाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने बैंगला-अनुवाद के साथ बंगाक्षरों में सन् १९२४ ई० में प्रकाशित कराया था। फिर बाद में यह पुस्तक सन् १९२९ ई० में प्रयाग-विश्वविद्यालय के अध्यापक डॉ० वावूरामजी सक्सेना के द्वारा अनुवादित और सम्पादित होकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। हाल ही में काशी-विश्वविद्यालय के श्रीशिवप्रसाद सिंह ने इसका एक नया सम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया है, जो परिश्रमपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इग पुस्तक की भाषा को कवि ने स्वयं अवहट्ट (संस्कृत 'अपभ्रष्ट', अर्थात् अपभ्रंश) कहा था। इसमें वीच-वीच में मैथिली भाषा के प्रयोग आ गये हैं। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्व है ही, काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

सन् १९०१ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसायटी के सेक्रेटरी को पत्र लिखकर हरप्रसाद शास्त्री ने एक और महत्वपूर्ण पुस्तक का पता दिया था। यह है ज्योतिरीश्वर नामक मैथिल कवि-लिखित वर्णरत्नाकर, जिसमें नाना श्रेणी के मनुष्यों, मानव-व्यापारों, सभाओं, उत्सव आदि के वर्णन करने के ढंग का उल्लेख है। प्राचीन मैथिली-भाषा के अध्ययन की दृष्टि से तो यह पुस्तक अत्यन्त उत्तम है ही, परन्तु उस समय की सामाजिक रीति-नीति, काव्य-रूढि और काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह बहुत उपयोगी है। इस काल या इसके थोड़ा इधर-उधर के काल की लिखी हुई मुस्लिम-पूर्व हिन्दू-दरवार और भारतीय जीवन का परिचय देनेवाली पुस्तक नहीं मिलती। एक ओर यह 'मानसोल्लास' नामक पूर्ववर्ती संस्कृत-ग्रन्थ की श्रेणी में पड़ती है और दूसरी ओर परवर्ती फारसी ग्रन्थ 'आईने-अकबरी' की कोटि में आती है। सन् १९४० ई० में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और पं० वतुआ मिश्र के सम्पादित में यह पुस्तक एशियाटिक सोसायटी आवृ बंगाल से प्रकाशित हो चुकी है। सुनीति वाबू ने इसे संस्कृत के विश्वकोषात्मक ग्रन्थ 'मानसोल्लास' का समकक्ष ही बताया है। कहना व्यर्थ है कि हिन्दी के आदिकालीन साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

इधर भारतीय विद्यामन्दिर के संचालक मुनि जिनविजयजी को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरणग्रन्थ 'उक्तिवक्तिप्रकरण' मिला है। इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है और उस युग के काव्य-रूपों के सम्बन्ध में भी थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ जाता है—यह पुस्तक महाराजा गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित दामोदर शर्मा की लिखी है। गोविन्दचन्द्र का राज्यकाल सन् १९५४ ई० तक था। अगे इस पुस्तक के विषय में थोड़ा विस्तारपूर्वक आलोचना करने का अवसर हमें मिलेगा। यहाँ इसका उल्लेख इसलिए कर दिया गया कि तत्कालीन काव्य-रूपों के अध्ययन में यह पुस्तक भी थोड़ी सहायता पहुँचा सकती है।

सन् १९३४ ई० में श्रीराम सिंह, श्रीसुर्यकरण पारीक और श्रीनरोत्तम स्वामी ने राजस्थानी-साहित्य के आदिकाव्य 'डोला-मारू रा 'दूहा' का सम्पादन बहुत परिश्रमपूर्वक

किया। यह पुस्तक काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई। राजपूताने में इस काव्य के कई रूप प्रचलित थे। सबसे पुराना रूप सम्भवतः ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का रहा होगा। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व तो है ही, परवर्ती हिन्दी-साहित्य के दोहावढ़ काव्यों को समझने की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ से सहायता मिलती है। इस पुस्तक को हेमचन्द्र के व्याकरण में प्राप्त दोहों और 'विहारी सतसई' के बीच की कड़ी समझा जा सकता है। यद्यपि यह गीति-काव्य के रूप में प्राप्त है और इसमें एक पूरी कथा है, तथापि यह मुक्तकों के संग्रह के साथ आसानी से तुलनीय हो सकता है। कथा के धुमाव के लिए दीर्घकाल से प्रचलित कथानक-रुद्धियों का उसी प्रकार आश्रय लिया गया है, जिस प्रकार हिन्दी के अन्य चरित-काव्यों में लिया गया है। ढोला-मारू के दोहों के सम्पादकों ने ठीक ही कहा है कि "हिन्दी भाषा के आदिकाल की ओर दृष्टि डालने पर पता लगता है कि हिन्दी के वर्तमान स्वरूप के निर्माण के पूर्व गाथा और दोहा-साहित्य का उत्तर भारत की प्रायः सभी देशी भाषाओं में प्रचार था। उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था, जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है।"

लेकिन राजस्थान के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है, एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से है तो दूसरी ओर इसका घनिष्ठ सम्बन्ध गुजराती से है। कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान् उसे 'जूनी गुजराती' कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है। अनेक जैनकवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है। श्रीमोतीलाल मेनारिया ने अपने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में अनेक जैनलेखकों का उल्लेख किया है।^१

-
१. कुछ महत्त्व के नाम ये हैं—धनपाल (सं० १०८१), जिनवल्लभ सूरि (सं० ११६७), पलह (सं० ११७०), वादिदेव सूरि (सं० ११८४), वज्रसेन सूरि (सं० १२२५), शालिमद्र सूरि (सं० १२४१), नेमिचन्द्र भण्डारी (सं० १२५६), आसगु (सं० १२५७), धर्म (सं० १२६६), शाहरयण और भत्तउ (सं० १२७८), विजयसेन सूरि (सं० १२८८), राम (सं० १२८९), सुमतिगणि (सं० १२९०), जिनेश्वर सूरि (सं० १२७८—१३३१), अभयतिलक (सं० १३०७), लक्ष्मीतिलक (सं० १३११—१७), सोमसूर्ति (सं० १२६०—१३३१), जिनपद्म सूरि (सं० १३०९—२२), विनयचन्द्र सूरि (सं० १३२५—५३), जगडु (सं० १३३१), संग्राम सिंह (सं० १३३६), पद्म (सं० १३५८), जयशेखर सूरि (१३६०—६२), प्रज्ञातिलक सूरि (सं० १३६३), वस्तिग (सं० १३६८), गुणाकर सूरि (सं० १३७१), फेण (सं० १३७६), धर्मकलश (सं० १३७७), सारमूर्ति (सं० १३९०), जिनप्रभ सूरि (सं० १३६०—९०), सोलण (१४वीं शताब्दी), राजशेखर सूरि (सं० १४०५), जयानन्द सूरि (सं० १४१०), तरणप्रभ सूरि (सं० १४११), विनयप्रभ (सं० १४१२), जिनोदय सूरि (सं० १४१५), ज्ञानकलश (सं० १४१५), पृथ्वीचन्द्र (सं० १४२६), जिनरत्न सूरि (सं० १४३०), मेघनन्दन (सं० १४३२), देवमुन्दर सूरि (सं० १४४०), साधुहंस (सं० १४५५)।

इनकी रचनाएँ अधिकांश में साहित्यिक अपभ्रंश की लिखी हुई हैं। फिर भी हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की परम्परा को समझने में बहुत सहायक हैं।

अभी तक मैंने अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती और मैथिली रचनाओं की ओर ही संकेत किया है। जिन प्रदेशों में आगे चलकर अवधी और व्रजभाषा का साहित्य लिखा गया, उनमें बसनेवाले कवि इन दिनों किस प्रकार की रचना कर रहे थे, इस बात का कोई प्रामाणिक मूल हमारे पास नहीं है। राजस्थान और विहार के बीच का प्रदेश उन दिनों कवियों से खाली नहीं होगा, यह तो निश्चित है। परन्तु ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं, जिनके आधार पर इन प्रदेशों की इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक अन्दर लगाया जा सके। परम्परा-कम से कुछ कवियों के नाम प्राप्त अवश्य होते हैं और क्वचित्-कदाचित् उनके नाम पर चलनेवाली पुस्तकें भी मिल जाती हैं। परन्तु, बहुत कम स्थलों पर उनकी प्रामाणिकता विश्वास-योग्य होती है। इसलिए व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि के पूर्ववर्ती साहित्य के काव्य-रूपों के अध्ययन के लिए हमें बहुत-कुछ कल्पना से काम लेना पड़ता है। इस विषय में संस्कृत के चरितकाव्य, कथा, आख्यायिका और चम्पू-रूप में लिखित रोमांस और निजन्धरी कथाएँ और ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा हमारी सहायता कर सकती हैं। यथास्थान हम इनकी चर्चा करेंगे।

साधारणतः: इसवी-सन् की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से सं० १०५० (सन् ११३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए। शुक्लजी ने इस काल के अपभ्रंश और देवभाषा-काव्य की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहास में विवेचना-योग्य समझी थीं। इनके नाम हैं—(१) विजयपाल-रासो, (२) हम्मीर-रासो, (३) कीर्तिलता, (४) कीर्तिपत्ताका, (५) खुमान-रासो, (६) वीसलदेव-रासो, (७) पृथ्वीराज-रासो, (८) जयचन्द्रप्रकाश, (९) जयमयंक जसचन्द्रिका, (१०) परमाल-रासो (आल्हा का मूल रूप), (११) खुसरो की पहेलियाँ और (१२) विद्यापति-पदावली। "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अन्तिम दो तथा वीसलदेव-रासो को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अतः, आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है।"

उपर अपभ्रंश की जिस सामग्री की चर्चा की गई है, उसमें से कुछ पुस्तकें अवश्य ऐसी हैं, जिनको साहित्यिक इतिहास में विवेच्य माना जा सकता है। सन्देशरासक ऐसी ही सुन्दर रचना है। प्राकृत पिंगल-सूक्तों में आये हुए कई कवियों की रचनाएँ निश्चय ही साहित्य के इतिहास में विवेच्य हैं। 'मिथ्रवन्धु-विनोद' में कुछ जैनग्रन्थों को इस काल में रखा गया था। शुक्लजी ने उनमें से बहुत-सी पुस्तकों को विवेचन-योग्य नहीं समझा था। कारण बताते हुए उन्होंने कहा था कि इन पुस्तकों में से (१) कुछ पीछे की रचनाएँ हैं, (२) कुछ नोटिस-मात्र हैं और (३) कुछ जैनधर्म के उपदेश-विषयक हैं।

इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था, उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई

नोटिस-मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूलरूप क्या था।

उपदेश-विषयक उन रचनाओं को, जिनमें केवल सूखा धर्मोपदेश-मात्र लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना उचित ही है। परन्तु, ऊपर जिस सामग्री की चर्चा की गई है, उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं, जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है, जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आनंदोलित, मथित और प्रवाहित कर रही हो। इस दृष्टि से अपश्रंश की कई रचनाएँ, जो मूलतः जैनधर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं और विजयपाल-रासो और हम्मीर-रासो की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बीद्र सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। अस्तु।

इधर जैन अपश्रंश-चरितकाव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिफँ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुण्ड्रनन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य-क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है। कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ चुला दी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है, न सूफियों की। हमारे साहित्य के इतिहास में एक गलत और वेदुनियादी बात यह चल पड़ी है कि लौकिक प्रेम-कथानकों को आश्रय करके धर्म-भावनाओं का उपदेश देने का कार्य सूफी कवियों ने आरम्भ किया था। बीद्रों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक-कथानकों का आश्रय लिया था। भारतीय सन्तों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविच्छिन्न भाव से चली आई है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे, तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी-रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कवीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है। जो भी पुस्तकें आज संयोग और सीधाग्य से बची रह गई हैं, उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्मबुद्धि ही रही है। काव्यरस की भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह

सकी हैं, जिनमें किसी-न-किसी प्रकार धर्मभाव का संस्पर्श रहा है। धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्धकवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। अश्वघोष की टक्कर के कवि भी उपेक्षाकावश भुला दिये गये हैं। यदि मंगोलिया के रेगिस्तानों ने कुछ पन्ने बचा न रखे होते तो अश्वघोष के नाटकों का हमें पता भी नहीं चलता। निस्सन्देह ग्रन्थसंग्रह-कत्तियों के उत्साह से भी कुछ पुस्तकों की रक्खा हुई है। 'सन्देशरासक' और 'कीर्तिलता' इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। परन्तु, उनकी संख्या बहुत कम हैं और ये सब मिलाकर केवल इस श्रेणी के विशाल साहित्य की सम्भावना की ओर इशारा भर करती हैं। इनसे हम सिफ़ यह अनुमान कर सकते हैं कि किसी समय इस श्रेणी का साहित्य प्रचुर मात्रा में वर्तमान था, जो उनके उत्साही संरक्षकों और कद्रदानों के अभाव में लुप्त हो गया है। एक दूसरे प्रकार का लौकिक रस का साहित्य भी बचा जरूर है; लेकिन उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहा है और आज जिस रूप में वह उपलब्ध है, उसकी प्रामाणिकता के विषय में सब समय आँख मूँदकर विश्वास नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवनचरित को उपजीव्य बनाकर काव्य लिखने की प्रथा इस देश में सातवीं शताब्दी के बाद तेजी से चली है। हमारे आलोच्य काल में यह प्रथा खूब बढ़ गई थी। इनमें कई ऐतिहासिक पुरुष कवियों के आश्रयदाता हुआ करते थे। चन्द के आश्रयदाता पृथ्वीराज थे और विद्यापति के आश्रयदाता कीर्तिसिंह। इन आश्रयदाताओं का चरित लिखते समय भी उसे कुछ धार्मिक रंग देने का प्रयत्न किया जाता था। रासों में कवि चन्द की स्त्री ने प्राकृत राजा के यश-वर्णन को अनुचित कहा था। उसने बताया था कि साधारण राजा का यश गाने की अपेक्षा भगवान् का यश गाना कहीं अच्छा है। इसपर कवि ने विस्तार से दशावतारचरित का वर्णन किया। जिस आकार में यह दशावतारचरित है, वह सम्भवतः परवर्ती रचना है। मेरे इस विश्वास का कारण मैं तीसरे व्याख्यान में बताऊँगा। परन्तु ऐसा लगता है कि रासोकार ने पृथ्वीराज को भगवत्स्वरूप बताकर कहानी में थोड़ा धार्मिकता का रंग देना चाहा था। कीर्तिलता के कवि ने भी पाठक को कुछ पुण्यलाभ का प्रलोभन दिया था—'पुरुष कहाणी हैं कहाणीं जसु पत्थावै पुन्नु।' इसका कारण यही था कि इस काल को रूप और गति देनेवाली शक्ति धर्मभावना ही थी। धार्मिक समझे जानेवाले साहित्य को कुछ अधिक सावधानी से सुरक्षित रखा गया था, इसलिए वह कुछ अधिक मात्रा में मिलता भी है। प्रायः इन धर्मग्रन्थों के आवरण में सुन्दर कवित्व का विकास हुआ है। तत्कालीन काव्य-रूपों और काव्य-विषयों के अध्ययन के लिए इनकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। 'भविसयत्कहा' धार्मिक कथा है, पर इतना सुन्दर काव्य उस युग के साहित्य में कहाँ मिलेगा! श्रीराहुल सांकृत्यायन ने उच्छ्वसित भाव से घोषित किया है कि 'स्वयम्भू का रामायण' हिन्दी का सबसे पुराना और सबसे उत्तम काव्य है। रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं तो क्या हैं? राजशेखर सूरि जैनमत के साधु थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नन्दास या हितहरिवंश वैष्णव-धर्म के साधु थे। राजशेखर ने नेमिनाथ का चरित-वर्णन करते हुए 'नेमिनाथफागु' लिखा था और नन्दास ने अपने उपास्य की लीलाओं का वर्णन करते हुए 'रासपंचाध्यायी'। दोनों में ही धर्मभाव प्रधान हैं और दोनों में ही कवित्व है। जिस प्रकार 'राधां-सुधानिधि' में राधा की शोभा के

वर्णन में कवित्व है और वह कवित्व उपास्य बुद्धि से चालित है, उसी प्रकार राजशेखर सूरि के 'नेमिनाथफागु' में 'राजल देवी' की शोभा में कवित्व भी है और वह उपास्य बुद्धि से चालित भी है। कौन कह सकता है कि इस शोभा-वर्णन में केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्व नहीं है ? —

किम किम राजल देवि तणउ सिणगारु भणेवउ ।
 चंपइगोरी अइधोई अंगि चंदन् लेवउ ॥
 खुपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी ।
 सीमंतइ सिद्वररेह मोतीसरि सारी ॥
 नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले ।
 मोती कुंडल कन्निथिय विवालिय कर जाले ॥
 नरतिय कज्जल रेह नयणि मुंहकमलि तंबोलो ।
 नागोदर कंठलउ कंठि पुनु हार विरोलो ॥
 मरगद जादर कंचयउ फुड फुल्लह माला ।
 करे कंकणमणि-वलय चूड खलकावई वाला ॥
 रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुणएँ कडि घाघरियाली ।
 रिमझिमि रिमझिमि रिमझिमिएँ पयनेउर जुयली ॥
 नहि आलत्तउ बलवलउ सेअंसुय किमिसि ।
 अंखडियाली रायमइ प्रिउ जोअइ मनरसि ॥

(छाया)

किमि किमि राजल देवी कौ सिगार कहाँ (इत) ।
 चंपक गोरी, अति धोई, अंग-चंदन लेपित ॥
 खोंप भरायौ जाति-कुसुम कस्तूरी सारी ।
 सीमंतै सिन्दूर रेख मोतिन भरि घारी ॥
 नव रंग कुंकुम तिलक रतन-तिलक लसित भाले ।
 मोती कुंडल कान ठयो, विवालिय कर जाले (?)
 नर्त्तित कज्जल-रेख नयन मख कमल तमोली ।
 नागोदर कंठल कंठे, पुनु हार विलोली ॥
 मरकत जरीदार कंचुक फुरै फूलन माला ।
 कर कंकन मनिवलय चुड़ी खनकावई वाला ॥
 रुणुझुनु रुणुझुनु रुणुकै कटि पर घाघरियाली ।
 रिमझिमि रिमझिमि झमकै पग नूपुर (सुखशाली) ॥
 नख अलकत वलवलै सेत अंसुक संग सोहै ।
 रागमयी अंखियान पिया मन-रस तें जोहै ॥

इस प्रकार, मेरे विचार से भी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य ही नहीं मानना चाहिए। परन्तु जो पुस्तकें पीछे की रचना हों या नोटिस-मात्र हों, उनपर विचार ही क्या हो सकता है। शुक्लजी ने जिन पुस्तकों को प्रामाणिक रचना समझकर इस काल का नाम वीरगाथा-काल रखा था, उनमें सबसे पहली 'खुमान-रासो' है, जिसके कवि का नाम है—दलपतिविजय। तीन खुमाण राजाओं की चर्चा करने के पश्चात् शुक्लजी इस नतीजे पर पहुँचे थे कि दलपतिकवि द्वितीय खुमाण (संवत् ८७० से ९०० विक्रम तक) का समसामयिक रहा होगा। यद्यपि प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर उन्होंने यह तो अनुमान कर ही लिया था कि इसका वर्तमान रूप 'विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा', अर्थात् यह भी सन्देहास्पद रचना है। शुक्लजी के मन में यह विश्वास था कि इसका मूलरूप पुराना होगा; परन्तु इधर पता चला है कि दलपति वस्तुतः तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजय के शिष्य थे। श्रीअगरचन्द नाहटा ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में इन्हें परवर्ती कवि सिद्ध किया है। इधर श्रीमोतीलाल मेनारिया ने अपनी नवप्रकाशित पुस्तक 'राजस्थानी-भाषा और साहित्य' (पृ० ८७) में लिखा है कि "हिन्दी के बिद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावल खुमाण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल संवत् १७३० और १७६० के मध्य में है।"

इसी प्रकार, नरपति नाल्ह के 'वीसलदेव-रासो' के बारे में भी सन्देह प्रकट किया गया है। मेनारियाजी ने इन्हें १६वीं शताब्दी के कवि नरपति से अभिन्न माना है और दोनों नरपतियों की रचनाओं की एकरूपता दिखाने के लिए उन्होंने जो उद्धरण दिये हैं, वे हँसकर उड़ा देने योग्य नहीं हैं। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

ब्रह्मा वेटी वीनवऊं, सारद करूं पसाई। हंस वाहन हरषि थिकी जिह्वा वसिजै माई॥
वीणा पुस्तक धारिणी, तूं तारणी त्रिभूवन। कविजन वाणी उच्चरइ, जु तूं हर्ई प्रसन्न॥
कासमीर पुर वासिनी, विद्या तणु निधान। सेवक कर जोड़े रहर्ई आपइ विद्या दान॥

—पंचदण्ड

कसमीराँ पाटणह मंजारि, सारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।
नाल्ह रसायण नर भणइ, हियड़इ हरषि गायणकइ भाइ॥
खेलाँ मेल्हाँ माँडली, ब्रह्म सभा मांहि मोहेउ छइ राइ॥६॥
सरसति सामणी तूं जग जीण, हंस चढ़ीं लटकावै वीण।
उरि कमलाँ भमराँ भमइं कासमीराँ सुख मंडणी माइ॥
तो तूठां पर प्रपिजइ, पाप छ्यासी जोयण जाइ॥७॥

—वीसलदेवरासो

मूसा वाहन वीनउ जेहनि मोदक आहार।

एक दंत दालिद्र हरइ समरथाँ नूं दातार॥

—पंचदण्ड

१. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, वर्ष ४४, अंक ४, पृ० ३८१—३९८।

२. राजस्थानी-भाषा और साहित्य, पृ० ८८ और ८९।

कर जौड़े नरपति कहइ, मूसा वाहन तिलक संदूर।
एक दंतउ मख झलमलइ, जाणिक रोहणीउ तप्पइ सूर॥

—बी० रा०

नगर मांहि गुड़ि झलहलइ सहु लोक जोवानी मिलइ।

—पं० दं०

घर घर गूड़ि ऊछली हुवउ वधावउ नगरी धार।

—बी० रा०

खीरोदक टसरू साड़ला, नित पहिरवां अंगि दीसइ भला।

—पं० दं०

दीया खरोदक पइहरणइ माणिक मोती चौक पुरार।

—बी० रा०

शुक्लजी ने भी लिखा था कि “नाल्ह के ‘वीसलदेवरासो’ में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा (वीसलदेव) की ऐतिहासिक चढ़ाइओं का वर्णन है, न उसके शैर्य-पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोपितपतिका के वर्णन के लिए) मनभाना वर्णन है। अतः, इस छोटी-सी पुस्तक को वीसलदेव ऐसे वीर का ‘रासो’ कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्यग्रन्थ नहीं है, केवल गाने के लिए रचा गया था तो वहुत-कुछ समाधान हो जाता है।” इस प्रकार, शुक्लजी को यह ग्रन्थ बहुत अधिक ग्रहणीय नहीं मालूम हुआ था। पुराना होने का गौरव पाने के कारण ही यह उनकी विवेचना का विषय बन सका था। अब इसका यह गौरव भी छिन गया है। इसकी “भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में वहुत-कुछ फेर-फार होता आया है पर लिखित रूप में सुरक्षित रहने के कारण इसका पुराना ढाँचा वहुत-कुछ बना हुआ है।”—यह शुक्लजी का विचार है, पर अब उल्टी बात मालूम हुई है। भाषा में, प्रचलित चारण-रीति के अनुसार, कुछ पुरानापन देने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार हम्मीररासो को नोटिस-मात्र समझा जा सकता है। शिवसिंह-सरोज में चन्द कवि के प्रसंग में कहा गया था कि “इन्हीं की (चन्द की) अंलाद में शार्ङ्गधर कवि थे, जिन्होंने हम्मीर गयरा (रासो ?) और हम्मीर-काव्य भाषा में बनाया है” (शिवसिंह-सरोज, पृ० ३५०)। सम्भवतः, इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस काव्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान किया था। प्राकृतपैगलम् उलटते-पलटते उन्हें कई पद्य छन्दों के उदाहरणों में मिले, फिर तो उन्हें “पूरा निश्चय हो गया कि ये पद्य असली हम्मीररासो के ही हैं।” क्यों और कैसे यह निश्चय हुआ—इसका कोई कारण शुक्लजी ने नहीं बताया। तब से अब हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इन छन्दों को निश्चित रूप से असली हम्मीर-रासो के छन्द माना जाने लगा। मजेदार बात यह है कि श्रीराहुल सांकृत्यायन ने इन्हीं कविताओं को अपनी ‘काव्यधारा’ में जज्जल कवि-लिखित माना है। कुछ पद्यों में स्पष्ट रूप से ‘जज्जल भणाइ’, अर्थात् ‘जज्जल कहता है’ की भणिति है। उदाहरणार्थ—

जहा,

पिंधउ दिढ सण्णाह वाह उप्पर पक्खर दइ ।
 वंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वग्रण लइ ॥
 उड्हुल णहपह भमउ खगग रिउ सीसहि डारउ ।
 पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बग्र अफ्कालउ ॥
 हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ ।
 सुरताण-सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ ॥

(छाया)

पहन्यो दृढ़ सन्नाह^१ वाजि ऊपर पक्खर^२ दे ।
 बन्धु समद रण धंस्यौ स्वामि हम्मीर वचन लै ॥
 उड्हित नभ-पथ भ्रम्यौ खड्ग रिपु सीसहि डार्यौ ।
 पक्खर-पक्खर ठेलि-पेलि पर्वत उच्चार्यौ ॥
 हम्मीर-काज जज्जल भणै क्रोधानल मुह मंह जल्यौ ।
 सुलतान-सीस करवाल दे तेजि कलेवर दिवि चल्यौ ॥

राहुलजी का यह मत प्राकृतपैंगलम् (विबिलयोथिका इण्डिका) में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्', अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है—पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निवद्ध पात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् 'कवि-निवद्ध वक्तृ-प्रांडोक्ति' है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं, किसी और कवि की होगी; परन्तु वह और कवि शाङ्कधर ही हैं, इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है, जिसमें वीररस का प्रसंग अवश्य था। फिर यदि प्राकृतपैंगलम् के एक कवि के ग्रन्थ को वीरगाथाकाल का ग्रन्थ समझा जाय तो उसी ग्रन्थ में से वब्बर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं को भी उस काल की रचना मानकर विवेच्य क्यों न समझा जाय? प्राचीन गुर्जर-काव्यों में भी अनेक कवियों की रचनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें थोड़ा-वहूत हिन्दी से सम्बद्ध समझकर इस काल के विषय में विचार किया जा सकता है। हमारे कहने का मतलब यह है कि या तो हम्मीररासो नोटिस-माल समझा जाय या प्राकृतपैंगलम् में उद्धृत सभी रचनाओं को इस अनुमानाधारित ग्रन्थ के समान ही इस काल की प्रकृति और संज्ञा के निर्णय का उपयुक्त साधन समझा जाय। इसके अतिरिक्त एक और बात भी विचारणीय है। 'हम्मीर' नाम इस देश में किसी एक ही राजा के लिए नहीं व्यवहृत हुआ है। गजनी के तुकं शासकों को 'अमीर' कहा जाता था। इस देश में 'हम्मीर' इसी 'अमीर' का संस्कृतायित रूप है। बुखारा का प्रथम अमीर 'उन्सद' नवीं शताब्दी में हुआ था। जबसे इन अमीरों ने गजनी के ब्राह्मण राजा शाहियों को हराकर गजनी पर अधिकार किया, तभी में इस देश में 'हम्मीर' शब्द प्रचलित हो गया।

१. सन्नाह = कवच । २. पक्खर = अश्व-संनाह, घोड़े का कवच ।

'गोविन्दचन्द्र' ने अपनी प्रश्नस्तियों में 'हम्मीरन्यस्तवैरं मुहुरथ समरक्रीडया यो विद्यते' कहा है और उसके पुत्र 'विजयचन्द्र' ने भी सन् ११६८ ई० के एक दानपत्र में गर्वपूर्वक घोषणा की है कि 'हम्मीर' अर्थात् गजनी के अमीर के वास से समूचा भुवन दुःख की ज्वाला से जल रहा था । उसे मैंने उसी की हरम की वेगमों के नयन-रूपी मेंदों की धारा से शान्त किया है— 'भुवन-दहन-लेहा-हर्ष्य-हम्मीर-नारी-नयन-जलद-धारा-धौत-भूतोपतापः ।' सो, हम्मीर शब्द को किसी पद्य में आया देखकर ही यह मान लिया जा सकता है कि वह चित्तौरवाले या रणथम्भोरवाले हिन्दू राजा 'हम्मीर' की ओर ही इशारा कर रहा है । कर भी सकता है, नहीं भी कर सकता है ।

"भट्ट केदार ने 'जयचन्द्रप्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था, जिसमें महाराज जयचन्द्र के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था । इसी प्रकार का 'जयमयंक जस-चन्द्रिका' नामक एक बड़ा ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है । केवल इनका उल्लेख सिधायच दयालदास-कृत 'राठीडां री ख्यात' में मिलता है, जो वीकानेर के राजपुस्तक-भण्डार में सुरक्षित है ।" (पृ० ५०), अर्थात् ये दोनों भी नोटिस-मात्र हैं । इन दोनों कवियों के विषय में कुछ अधिक चर्चा हम आगेवाले व्याख्यान में करेंगे । यहाँ इतना कह रखना ही उचित जान पड़ता है कि इनकी चर्चा रासों में भी मिलती है और हिन्दी की अन्य पुस्तकों में भी कुछ चर्चा मिल जाती है । ये गोरी के दरवार के कवि वताये गये हैं । इसी प्रकार "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में प्रचलित सुनाई पड़ते हैं ।" १ (पृ० ५१) सो, यह भी नोटिस-मात्र से कुछ अधिक दाम का नहीं । चन्द्रवरदाई का 'पृथ्वीराजरासो' भी अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हो रहा है । इसके विषय में विस्तार से हम फिर विचार करेंगे । अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा गया है, उनमें से कुछ नोटिस-मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं । इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है । राजस्थानी-साहित्य के विद्वान् विवेचक श्रीमोतीलाल मेनारिया ने कुछ झुँझलाकर लिखा है कि "इन ग्रन्थों को प्राचीन वतलाते समय एक दलील यह दी जाती है, कि इनके रचयिताओं ने इनमें सर्वत्र वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, और इससे उनका अपने चरित्रनायकों का समकालीन होना सिद्ध होता है । परन्तु यह भी एक ध्रान्ति है । यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करनेवाले कवि समसामयिक ही हों । यह तो काव्य-रचना की एक शैली-मात्र है । काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य

१. यद्यपि जगनिक के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है, तथापि अनुमान से समझा जा सकता है कि इस कवि ने यदि 'आलहाखण्ड' की रचना कभी की भी हो तो वह रचना बुन्देलखण्ड की सीमा के बाहर बहुत दौर्धकाल तक अपरिचित रही । यह देखकर थोड़ा आश्चर्य ही होता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस अत्यन्त लोकप्रिय गीतपद्धति को राम-मय करने का प्रयास क्यों नहीं किया । लेकिन यह नकारात्मक दलील हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती ।

का रूप देने के लिए कवि प्रायः ऐसा किया करते हैं। अनेक ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके कर्ता समकालीन न थे, पर जिन्होंने वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। राजस्थान में चारण-भाट आज भी जब प्राचीन काल के बीर पुरुषों पर ग्रन्थ तथा फुटकर गीत आदि लिखते हैं, तब वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं। बारहठ के सरिसिंह-कृत 'प्रताप-चरित्र' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है, जो सं० १९९२ में लिखा गया है।"

—राजस्थान साठ, पृ० ८१।

आज से कोई बारह वर्ष पूर्व मैंने कहा था कि राजपूताने में प्राप्त कुछ काव्यग्रन्थों के आधार पर इस काल का कोई भी नामकरण उचित नहीं है। उस समय मेरा विश्वास था कि जिन ग्रन्थों के आधार पर उक्त काल का नामकरण किया गया है, वे अधिकांश प्रामाणिक हैं। आज लग रहा है कि इनमें से कई की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और कई नोटिस-मात्र हैं। रही राजपूताने के साहित्य की बात, सो उसके विषय में मेनारियाजी का यह मत उल्लेख्योग्य है—“इसके अतिरिक्त ये रासो-ग्रन्थ, जिनको बीर-गाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर बीरगाथा-काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय-विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते। केवल चारण, भाट आदि वर्ग के कुछ लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है, और वे ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाय, तब तो बीरगाथा-काल राजस्थान में आज भी ज्यों-का-त्यों बना है; क्योंकि राजा-महाराजाओं अथवा उनके पूर्वजों की कीर्ति के ग्रन्थ आदि लिखने का काम ये लोग आज भी उसी उत्साह के साथ कर रहे हैं, जिस उत्साह से पहले किया करते थे। परन्तु राजस्थान के बातावरण तथा इन जातियों से अपरिचित लोगों की यह बात समझ लेना कुछ कठिन है।” —“राजस्थानी भाषा और साहित्य”, पृ० ८१।

अब, सही बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य पर अप्रबंश-भाषा के उस रूप का प्राधान्य बना रहा है, जिनमें तद्भव शब्दों का ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषत् विकसित या परिवर्तित रूप में बनी रहीं, पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली-सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनों को शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवतपुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शांकर मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में और साहित्य की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के एकाएक प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल का साहित्य अप्रबंश-प्रधान साहित्य है।

'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' का उल्लेख पहले ही हो चुका है। इस ग्रन्थ के लेखक दामोदर शर्मा सम्भवतः राजकुमारों के शिक्षक थे। मैंने सुना है कि यह ग्रन्थ डॉ० श्रीमुनीति-कुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित होकर छप तो चुका है; लेकिन अभी प्रकाशित नहीं हुआ।

(अब यह सिद्धी जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो गया है।) डॉ० मोतीचन्द्र ने 'सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में एक लेख लिखकर बताया है कि इस पुस्तक में तत्कालीन काशी की भाषा का रूप पाया जाता है। 'वेद पढ़व, स्मृति अध्यासिव, पुराण देखव, धर्म करव', यह बारहवीं शताब्दी की बनारसी भाषा का नमूना है। स्पष्ट ही इस वाक्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार 'छानु गाऊं या' में छाव शब्द किसी अपभ्रंश पुस्तक की भाषा के समान 'छत्तु' नहीं बन गया है और, 'मेरा क्षेम को करिह' में क्षेम विशुद्ध तत्सम रूप में है। 'विद्या अवढ़' में विद्या और 'प्रज्ञा' में प्रज्ञा तत्सम रूप में ही व्यवहृत हुए हैं। इस पुस्तक से और भी बहुत-सी बातों का पता चलता है। महत्वपूर्ण और जानने योग्य बात यही है कि उस समय इस भाषा में कथा-कहानी का साहित्य रचित होने लगा था।

इसके बाद तत्सम शब्दों के निश्चित प्रयोग का प्रमाण ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की 'कीर्तिलता' में भिन्नता है। दोनों ही पुस्तकें मिथिला में लिखी गई थीं। विद्यापति पद्य में तो अपभ्रंश के समान तद्द्रव रूपों का व्यवहार करते हैं—यद्यपि जैन लेखकों की तरह वे संस्कृत का सम्पूर्ण वहिकार नहीं करते हैं—पर जब गद्य लिखने लगते हैं तो उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की भरमार हो जाती है। सम्भवतः, यह बात इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि पद्य की भाषा में तो थोड़ा-बहुत पुरानापन तब भी बना हुआ था; पर बोलचाल के गद्य में तत्सम शब्दों का प्राचुर्य बढ़ रहा था। विद्यापति की पदावली में तो तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत है, परन्तु उसकी भाषा बहुत बदलती रही है। अतएव उसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ज्योतिरीश्वर की पूरी पुस्तक ही गद्य में है; वल्कि यह कहिए कि शब्दों की सूची-मात्र है। उसमें संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग यही सूचित करता है कि बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। संयोगवश तत्सम शब्दों के प्रचलन के प्रमाण के रूप में जिन तीन पुस्तकों के प्रमाण का उल्लेख किया गया है, वे सभी संस्कृताभ्यासी ब्राह्मण-पण्डितों की रचनाएँ हैं और तीनों ही पूर्वी प्रदेश में लिखी गई हैं। आलोच्य काल में काशी और मिथिला संस्कृत-विद्या के गढ़ रहे हैं। इसलिए, कोई चाहे तो कह सकता कि यह ब्राह्मणों की और पूर्वी प्रदेश की विशेषता थी। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इस अनुमान का प्रत्याख्यान करने योग्य अधिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। श्रीअग्रचन्द्रजी नाहटा ने 'जनंल आँव दि यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी' की बारहवीं जिल्द में 'तरुणप्रभ सूरि' नामक चौदहवीं शती के जैन विद्वान् की एक गद्य-रचना 'दशार्णभद्रकथा' की सूचना प्रकाशित कराई है। इसकी भाषा में तत्सम शब्दों की उसी प्रकार भरमार है, जिस प्रकार कीर्तिलता के गद्य में है। कल्पना-शक्ति को कुछ और बल देकर निश्चय के साथ ही यह कहा जा सकता है कि उन दिनों तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। नवीं शताब्दी की 'कुवलयमालाकथा' में कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें बोलचाल की तत्काल प्रचलित भाषा के सुन्दर नमूने आ गये हैं। उनमें थोड़ा पढ़ाई-लिखाई के बातावरण में रहनेवाले बटुकों की भाषा इस प्रकार है—

भो भो भट्टउत्तां ! तुम्हे ण याणह यो राजकुले वृत्तांतं ?

तेहि भणियं—भण है व्याघ्रस्वामि ! का वार्ता राजकुले ?

तेण भणियं—कुवलयमालाए पुरिसद्वेषिणी ए पातओ लंवितः ।
 इमं च सोऊण अप्फोडिकण एक्को उट्ठिउ चट्टो । भणिअं च
 णेणं यदि पांडित्येन ततो मइं परिणेतव्या कुवलयमाला ।
 अणेण भणियं—अरे ! कुवणु तउ पाण्डित्यु ?
 तेण भणियं—षडंगु पढमि, निगुण मन्त्र पढमि, किं न पाण्डित्यु ?
 अणेण भणिअं—अरे ! ण मंवेहि तृगुणेहि परिणिजजइ,
 जो सहितौ पातौ भि (विं) दइ, तं परिणेति ।
 अणेण भणियं—अहं सहितउ ज्जो ग्वाथी पढमि ।
 तेहि भणिअं—कइसी रे व्याघ्रसामि ! गाथः ?
 तेण भणियं—इम ग्वाथ—
 सा ते भवतु सुप्रीता अबुधस्य कुतो बलं ?
 यस्य यस्य यदा भूमिः सब्बन्न मधुसूदनः ॥
 तं च सोऊण अणेण सकोपं भणिअं—
 अरे अरे मूर्ख ! स्कन्धकोपि गाथ भणसि ! अम्ह गाथ ण पुच्छह ।
 तेहि भणिअं—त्वं पठ भट्टो यजुस्वामि ! गाथः ।
 तेण भणियं—सुट्ठु पढमि—
 आए कप्पे मत्तगय गोदावरी ण मुयंति ।
 कों तहु देसहु आव (प) तयि को न पराणति वात्त ॥
 अणेण भणियं—अवे ! सिलोगो अम्हे ण पुच्छह ग्वाथी पठहो ।
 तेण भणिअं सुट्ठु पढमि—
 तंबोलरइयराउ अहरो कामिनं दृष्ट्वा ।
 अम्हं चिअ क्वुभई मणो दारिद्रगुरु णिवारेइ ॥
 तउ सब्बेहि विभणिअं—अहो ! भट्ट यजुस्वामी विदग्ध पंडितु विद्यावंतो ग्वाथी
 पठति, एतेन सा परिणेतव्या ।
 अणेण भणियं—अरे ! केरिसो सो पातउ जो तीय लंवितु ।
 तेण भणिउ—राजागणे मइं पठितु आसि, सों से विस्मृतु, सब्बलोकु पठति त्ति ॥
 इमं च सोऊण चट्ट रसायणं चिन्तियं राइउत्तेण—अहो ! अणहावट्टियाणं
 असंबद्धपलावत्तणं चट्टाणं ति ॥”

—कुवलयमालाकथायाम् [जे० भाँ० ता० १३ । १३१, पृ० १०६-१०७]

[अजी भट्टपुत्रो, तुम नहीं जानते, राजकुल में क्या वृत्तान्त (चल रहा) है ?
 उन्होंने कहा—कहो हे व्याघ्रस्वामी, क्या वार्ता है राजकुल में ?
 उसने कहा—पुरुषद्वेषिणी कुवलयमाला ने पात (पत्र) लगा दिये हैं ।
 यह सुनकर एक विद्यार्थी फड़ककर उठा और बोला,—निर्णय यदि पाण्डित्य से
 (होनेवाला है) तो मैं व्याह करूँगा कुवलयमाला से ।

दूसरे ने कहा—अरे कौन-सा तेरा पाण्डित्य है ?

उसने कहा—(क्यों ?) मैं पड़ंग (वेद) पढ़ता हूँ, तिगुण मन्त्र पढ़ता हूँ, पाण्डित्य क्यों नहीं है ?

दूसरे ने कहा—अरे तिगुण मन्त्र से व्याह नहीं होगा । जो दोनों पातों (पत्रों) को एक साथ समझ सकेगा, उससे वह (कुवलयमाला) व्याह करेगी ।

दूसरे ने कहा—मैं साथ-साथ दो ग्राथियाँ पढ़ता हूँ ।

उन्होंने कहा—कैसी हैं रे व्याघ्रस्वामी, वे गाथाएँ ?

उसने कहा—यह गाथा ।

'सा ते.....मधुमूदनः'

यह सुनकर दूसरे ने श्रोध-सहित कहा—अरे रे मूर्ख ! तू स्कन्धक को गाथा कहता है । हम गाथा नहीं पूछते ।

उन्होंने कहा—तुम पढ़ो भट्ट यजुस्वामी गाथा ।

उसने कहा—बहुत अच्छा, पढ़ता हूँ—

'आए कप्ये.....वात्स ।'

दूसरे ने कहा—अबे, हम श्लोक नहीं पूछते, ग्राथी पढ़ ।

उसने कहा—बहुत अच्छा पढ़ता हूँ—

'तंवोल.....णिवारेइ ।'

तब सबने कहा—अहो ! भट्ट यजुस्वामी विदर्घ पण्डित है, विद्यावन्त है, ग्राथी पढ़ता है, इसी से वह व्याही जायगी ।

दूसरे ने कहा—अरे कैसा वह पत्र है, जो उसने लगा रखा है ?

उसने कहा—राजांगण में मैंने पढ़ा था, वह अब भूल गया; क्योंकि उसे सब लोग पढ़ते हैं ?

इस चट्ट-रसायन को सुनकर राजपुत्र ने सोचा—अहो ! असम्बद्ध प्रलापी छात्रों (चट्टों) का यह कैसा अन्यथा बर्ताव है ?]

स्पष्ट ही इसमें तत्सम शब्दों का बाहुल्य है । बाहुल्य का कारण संस्कृत-पाठशाला का वातावरण है । इसी पुस्तक में एक अनाथालय के कोड़ियों, अपाहिजों आदि की भाषा का भी नमूना है । यह अनाथालय मथुरा में था । अनुमान किया जा सकता है कि इस वातचीत में स्थानीय भाषा का रूप रहा होगा । संस्कृत के कठिन तत्सम शब्दों का न रहना स्वाभाविक है । फिर भी इसमें 'प्रयाग', 'खेद' आदि शब्द प्रायः तत्सम रूप में ही आये हैं ।

यह ध्यान देने की वात है कि 'अच्छाइ', 'आछ' आदि के जो प्रयोग वारहवीं शताब्दी की भाषा ('उक्तिव्यक्तिप्रकरण') में मिल जाते हैं, वे करीब-करीब यहाँ भी हैं ।

इस प्रकार नवीं शताब्दी में ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्द आने लगे थे, जो लोग बातचीत में कुछ इस प्रकार का आभास देना चाहते थे कि वे पढ़े-लिखे हैं, वे निस्संकोच संस्कृत-शब्दों का प्रयोग किया करते थे । परन्तु, साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में संस्कृत-शब्दों का व्यवहार उसी स्वाभाविकता के साथ होता जान पड़ता है, जैसा बाद की बोलियों में होता रहा । द्वीरे-द्वीरे संस्कृत के तत्सम शब्द अधिकाधिक मात्रा में आने लगे ।

सो, इस काल की भाषा की मुख्य प्रवृत्ति थी—बोलचाल में तत्सम शब्दों का प्रचार। स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने बताया है कि “विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है, विभक्तियाँ विस गई हैं। खिर गई हैं। एक ही विभक्ति ‘हँ’ या ‘आहँ’ कई काम देने लगी है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्त-विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियाँ नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। हाँ, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिये; किन्तु धनवती अपुवा मीसी (संस्कृत) भी कई तत्सम पद लिये। अपभ्रंश साहित्य की भाषा हो चली थी। वहाँ ‘गत’ भी ‘गय’ और ‘गज’ भी ‘गय’। काच, काक, काय, कार्य, सबके लिए काय। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थ-वोध—का व्याधात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं। जैन लोग संस्कृत-शब्दों का विष्कार अवश्य करते रहे, पर वे आते ही गये।”

चन्द का रासो अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं रह सका है। इसमें बहुत प्रक्षेप हुआ है। फिर भी इसके वर्त्तमान रूप से (जो सत्वहवीं शताब्दी के आस-पास का है) अनुमान किया जा सकता है कि इसमें संस्कृत की ओर जाने की प्रवृत्ति है। तद्भव शब्दों में अनुस्वार लगाकर संस्कृत की छाँक देना तत्कालीन भाषा के नये धुमाव की सूचना देता है। परन्तु, इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। सूरदास, तुलसीदास, विहारी आदि परवर्ती कवियों की भाषा में निश्चित रूप से तत्सम शब्दों का अवाध प्रवेश होने लगा था; परन्तु उनके प्रयोगों का अध्ययन करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्सम शब्दों का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है। ‘विधुवैनी’ में ‘वैनी’ परम्परा-प्राप्त शब्द है और ‘चन्द्रवदनि’ में ‘वदनि’ नये धुमाव की सूचना देता है। ‘लोयन कोयन’ में ‘लोयन’ पुरानी स्मृति का चिह्न है और ‘सोचविमोचन लोचन’ में ‘लोचन’ नये प्रभाव का द्योतक है। ‘मैन-सर’ में ‘मैन’ पुरानी विरासत है और ‘मदनमोहन’ में ‘मदन’ नया अतिथि है। स्पष्ट ही दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की बोल-चाल की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा पद्य का वाहन बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम-बहुल होती गई। कीर्तिलता में इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे-धीरे तत्सम शब्दों और उनके नये तद्भव रूपों के कारण भाषा बदली-सी जान पड़ने लगी और चौदहवीं शताब्दी के बाद वह बदल ही गई। इसके पूर्व अपभ्रंश और देश्य-मिश्रित अपभ्रंश की प्रधानता बनी रही। इस प्रकार, दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं; भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।

इस पुरानी हिन्दी के कुछ पुराने नमूने शिलालेखों में मिल जाते हैं। वारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश-भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था। गद्य और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्द मूल रूप में रखे जाते थे; पर पद्य लिखते समय उन्हें तद्भव बनाने का प्रयत्न किया जाता था।

‘चरित’ तत्सम शब्द है। इसका पुराना तद्रूप रूप ‘चरित’ बहुत काल से प्रसिद्ध था। बोलचाल की भाषा में नये सिरे से ‘चरित’ बोला जाने लगा था और पद्म लिखते समय भी कवि लोग इसका व्यवहार कर देते थे। इसी प्रकार, ‘दक्षिण’, ‘समश्र’, ‘सुख’, ‘ग्राम’ आदि शब्द बोलचाल की भाषा से सरककर पद्म में आ जाते थे। बारहवीं शताब्दी में किसी विश्वामित्रगोक्त्रीय गुहिलवंशी विजयपाल ने ‘काई’ नामक वीर को हराया था। उसके लड़के का नाम भुवनपाल था, नाती का हर्षराज। इस हर्षराज के भजदण्ड ने कालंजर, डाहल और गुर्जर तथा दक्षिण के देशों को जीता था। वह संगरभंगर, अर्थात् युद्ध को तहस-नहस करनेवाला था। उसके रणरभस के सामने कोई टिक नहीं सकता था। उसने महागढ़ को जीता, पौरजनों का रंजन किया, शत्रुओं को जीता, चित्तोड़ से जूझा, दिल्लीदल को जीता और इस प्रकार हर्षराज का पुत्र सवका प्रशंसा-पात्र बना। शक्तिशाली गुर्जरों को खदेड़ दिया, गोदहों को मार भगाया। इस प्रकार, अपने पौरुष के कारण विजयसिंह ने बड़ी कीर्ति पाई। वह भुंभुक देव का भक्त था। उन्हीं की प्रणति करके उसने सारी कीर्ति अर्जित की और दृढ़ चित्त से सम्पूर्ण सुखों को भोगा। दमोह जिले में प्राप्त उसका हिन्दी-लेख इस प्रकार है—

विसमित गोत्त उत्तिम चरित विमल पवित्रो गाण ।
अरधड़ धड़णो संसिजय द्ववडो ऋवाण ॥
द्ववडो पटि परिठियउ खत्तिय विज्जयपाल ।
जोणे काइउरणि विजिणिउ तह सुअ भवण पाल ॥
कलचुरि गुजर ससहरह दक्षिण पइ सुख अंड ।
चुहरा अहरण विजिणण हसिर राअ भवदंड ॥
संघरि भंगरि रणरहसु गउ हरिसरुग्रि कि अंग्र ।
हपइत पठियर सुहड़ सुमुहु न कोउ समघ ॥
जेणे रंजिउ जग पउरिणउ ग्राम महागढ़ हेठि ।
विजयसीह सुर अठिअह अरियण निअहित पेठि ॥
जो चित्तोडहुं जुज्ज्ञागउ जिण ढिलीदल जित ।
सो सु पसंसहि रभअकइ हरिसराअ तिअ सुत्तु ॥
खेदिय गुजर गौदहइ कीअ अधिअं मारि ।
विजय सीह कित सहलहु पौरिस वह संसारि ॥
भुंभुक देवह पअ पणधि पअडिअ किज समव ।
विजयसीह दिड़ चित्तु करि आरंभिअ सुख सव्व ॥

—नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग ६, अंक ४ में प्रकाशित
रा० व० हीरालालजी के लेख से ।

यह शिलालेख उस युग की भाषागत प्रवृत्तियों को अविकृत रूप में उपस्थित करता है। यह स्पष्ट रूप से बताता है कि पद्म की भाषा अपन्नंश ही थी; किन्तु बोलचाल की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्द आने लगे थे और उनका प्रभाव पद्म की भाषा पर भी पड़ रहा था।

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने इस काल की भाषा पर विचार करते हुए कहा है (हिन्दी-भाषा का इतिहास, भूमिका, पृ० ७७) कि “पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग २, अंक ४ में ‘पुरानी हिन्दी’ शीर्षक लेख में जो नमूने दिये हैं, वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रन्थों के हैं। उतः, इनमें हिन्दी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश-साहित्य के अन्तर्गत रखना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है।”

वस्तुतः, १४वीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिन्दी-भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। कुछ अधिक प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ और शिलालेख आदि से ही उस भाषा का परिचय मिल सकता है। दुर्भाग्यवश इस काल का ऐसा साहित्य उपलब्ध नहीं है। जो एकाध शिलालेख और ग्रन्थ (जैसे, उक्तिव्यक्तिप्रकरण) मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और वोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था। इसलिये, इस काल को अपभ्रंश-काल का बढ़ाव कहना उचित ही है।

विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर इस काल के लिये राहुलजी ने एक और नाम सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है—‘सिद्ध-सामन्त-काल’। इस काल का जो भी साहित्य मिलता है, उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता, पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं, जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति। वस्तुतः, काल-प्रवृत्ति का निर्णय प्राप्य ग्रन्थों की संख्या द्वारा नहीं हो सकता, बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है। प्रभाव-उत्पादक और प्रेरणा-संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णयिक हो सकता है। फिर ‘सामन्त-काल’ में ‘सामन्त’ शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुति-परक रचनाओं के प्रेरणान्त्रोत का भी पता चलता है। ‘सामन्त’ जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है, उसमें उसकी झूठी-सच्ची विजयगाथाओं और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृंगार रस का आलम्बन। सामन्त को दोनों ही चाहिए। इस प्रकार, इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का गुण है। ‘प्राकृतपैंगलम्’ में उदाहरण रूप में उद्धृत पद्यों में इस प्रकार की राजस्तुतिमूलक रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हैं और तत्कालीन संस्कृत-काव्य में इस श्रेणी की रचनाएँ बहुत अधिक हुई हैं। सो, यह राजस्तुति-परक रचनाएँ ‘वीरगाथा’ उतनी नहीं हैं, जितनी राजस्तुति हैं। उनकी लड़ाइयों और विवाहों की कथाओं में कल्पना अधिक है, तथ्य कम।

यद्यपि हमने अपभ्रंश की अनेक रचनाओं की चर्चा की है और हमारा मत है कि ये रचनाएँ आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के काव्य-रूपों के अनुमान में सहायक हैं; परन्तु यह सत्य है कि जिन प्रदेशों में आगे चलकर व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का साहित्य

लिखा जाने लगा, उन प्रदेशों की बहुत ही थोड़ी रचनाएँ हमें मिलती हैं—बहुत ही थोड़ी। फिर भी मात्रा और विस्तार में अत्यन्त अल्प इन रचनाओं का भी बहुत महस्त्व है, इन थोड़ी रचनाओं ने भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है और अनेक विद्वानों ने इसके मूल रूप के समझने का प्रयास भी किया है। यह साहित्य अपभ्रंश-कवि द्वारा निवद्ध उस अकिञ्चना सुन्दरी के समान है, जिसके सिर पर एक फटी-पुरानी कमली थी, गले में दस-बीस गुरियों की माला थी, फिर भी उसका सौन्दर्य ऐसा मनोहर था कि गोष्ठ के रसिकों को कितनी ही वार उठा-बैठी करने को वाध्य होना पड़ा—

सिर जरखंडी लोअड़ी गलि मणि अड़ा न बीस ।
तोवि गोट्ठड़ा कराविआ मुद्दए उटठवईस ॥



द्वितीय व्याख्यान

अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने अपश्रंश के उपलब्ध साहित्य की चर्चा की है। स्पष्ट ही हमारे आलोच्य काल के आरम्भ में इस भाषा का बहुत ही विशाल साहित्य वर्तमान था। साधारणतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल माना जाता है। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १०५० से १३७५ तक के काल को इस काल की सीमा मानी थी। जबतक इस विशाल उपलब्ध साहित्य को सामने रखकर इस काल के काव्य की परीक्षा नहीं की जाती, तबतक हम इस साहित्य का ठीक-ठीक मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते। केवल संयोगवश इधर-उधर से उपलब्ध प्रमाणों के बल पर किसी वात को अमुक का प्रभाव और किसी को अमुक ऐतिहासिक घटना की प्रतिक्रिया कहकर व्याख्या कर देना न तो बहुत उचित है और न बहुत हितकर।

हमने बताया है कि इस वात का निर्णय करना कठिन है कि अवधी और व्रजभाषा-क्षेत्र में उत्पन्न और वहीं की भाषा बोलनेवाले लोगों ने किस प्रकार के साहित्य की रचना की थी, जिसका परवर्ती विकास अवधी और व्रजभाषा के साहित्यिक ग्रन्थ हैं; क्योंकि १०वीं से १४वीं शताब्दी के भीतर इन क्षेत्रों में कोई रचना हुई भी हो तो उसका प्रामाणिक रूप हमें प्राप्त नहीं। हमें पाश्वर्वर्ती प्रदेशों से प्राप्त साहित्यिक सामग्री के आधार पर तथा पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं के काव्य-रूपों को देखकर अनुमान द्वारा उस साहित्य-रूप का अन्दाजा लगाना पड़ता है। हमें इस वात का ध्यान रखना होगा कि यह अन्दाजा यथासम्भव ठीक हो। यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हिन्दी का साहित्य ही इस काल में इस प्रकार के दुर्भाग्य का शिकार बना। केवल गुजराती और राजस्थानी इस विषय में कुछ अधिक सौभाग्यशालिनी हैं; नहीं तो लगभग सभी प्रान्तीय साहित्यों की यही कहानी है। जबतक प्रत्येक प्रदेश से प्राप्त सामग्री का व्यापक अध्ययन नहीं किया जाता तबतक सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक रूप अस्पष्ट ही बने रहेंगे। इसीलिए इस काल के साहित्य-रूप के अध्ययन के लिये प्रत्येक श्रेणी की पुस्तक का कुछ-न-कुछ उपयोग है। पुस्तक चाहे धर्मोपदेश की हो, वैद्यक की हो, माहात्म्य की हो, वह कुछ-न-कुछ साहित्य-रूप को स्पष्ट करने में अवश्य सहायता पहुँचाएगी। इस काल में साहित्यिक क्षेत्र को यथासम्भव व्यापक बनाकर देखना चाहिए। यहीं तक कि इस काल में उत्पन्न महात्माओं और कवियों के नाम पर चलनेवाली और परवर्ती काल में निरन्तर प्रक्षेप से

स्फीत होती रहनेवाली पुस्तकों का भी यदि धैर्यपूर्वक परीक्षण किया जाय तो कुछ-न-कुछ उपयोगी बात अवश्य हाथ लगेगी। न तो हमें परम्परा से प्रचलित बातों को सहज ही अस्वीकार कर देना चाहिए और न उनकी परीक्षा किये बिना उन्हें ग्रहण ही कर लेना चाहिए। इस अन्धकार-युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय, उसे सावधानी से जिलाये स्खना कर्तव्य है; क्योंकि वह वहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल मुश्किल चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती ही है।

परन्तु, प्रश्न यह है कि इस काल में आज के हिन्दीभाषी कहे जानेवाले क्षेत्र की देशी भाषा में लिखित कोई पुस्तक अपने मूल रूप में क्यों नहीं प्राप्त होती? इसका कोई-न-कोई ऐतिहासिक कारण होना चाहिए।

इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं—(१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (२) सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय का आश्रय पाकर और भठों, विहारों आदि के पुस्तकालयों में शरण पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। राज्याश्रय सबसे प्रबल और प्रमुख साधन था। धर्म-सम्प्रदाय का संरक्षण उसके बाद ही आता है। तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं, वे बदलती रही हैं। जनता को उनके 'शुद्ध रूप' से कोई मतलब नहीं था, आवश्यकतानुसार उसमें काट-छाँट भी होती रही है, परिवर्त्तन-परिवर्द्धन भी होता रहा है और इस प्रकार लोकरुचि के सचिं में ढलते हुए उन्हें जीवित रहना पड़ा है। आल्हा काव्य इसी प्रकार लोकचित्त की चंचल सवारी पर चलता आया है। यह बता सकना कठिन है कि उसका मूल रूप कैसा था, परन्तु वह जनता को प्रिय था, उसके सुख-दुःख का साथी था और अपने इस महान् गुण के कारण वह जनता की प्रीति पा सका और जीवित रह गया। उसके सगवयस्क काव्य वह प्रीति नहीं पा सके और अपना शुद्ध रूप लिये अस्त हो गये।

देशी भाषा की कुछ दूसरी पुस्तकें जैन सम्प्रदाय का आश्रय पाकर साम्प्रदायिक भाण्डारों में सुरक्षित रह गई हैं। उनका शुद्ध रूप भी सुरक्षित रह गया है। कुछ पुस्तकें बौद्धधर्म का आश्रय पाकर और बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गई थीं, जो आगे चलकर हिन्दुस्तान के बाहर से पाई जा सकी हैं। परन्तु, जो पुस्तकें हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नरेशों के संरक्षण से बची हैं, वे अधिकांश संस्कृत में हैं। इस श्रेणी की रचनाएँ मिलती अवश्य हैं; पर हमारे आलोच्य काल के देशी भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में उनसे कोई विशेष सूचना नहीं मिलती। इस उपेक्षा का कारण क्या है? यह कहानी मुनने योग्य है।

श्रीहर्षदेव के शक्तिशाली साम्राज्य के टूट जाने के बाद भी कान्यकुञ्ज का गोरव बना रहा। उनके सेनापति भण्ड और उनके वंशजों ने कान्यकुञ्ज पर कुछ दिनों तक शासन किया। नवीं शताब्दी के आरम्भ में उनकी शक्ति क्षीण हो गई; परन्तु राजलक्ष्मी फिर भी कान्यकुञ्ज को छोड़ने को तैयार नहीं थी। पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम

के प्रतीहार इस राजलक्ष्मी को अपनी गृहलक्ष्मी बनाने का प्रयत्न करते रहे। पर नवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रतीहारों को ही कान्यकुञ्ज पर अधिकार करने का गौरव प्राप्त हुआ। इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक कान्यकुञ्ज के प्रतीहार वडे शक्तिशाली शासक रहे। भारतवर्ष की केन्द्रीय शक्ति उन्हीं के हाथों रही।

सन् १०१८ ई० में राजा पाल महमूद से पराजित हुआ और उसने महमूद की अधीनता स्वीकार कर ली। ऐसा विश्वास किया जाता है कि राजपूत राजाओं को उसका यह आचरण अच्छा नहीं लगा और कई राजाओं ने मिलकर उसे मार डाला तथा उसके पुत्र को गढ़ी पर बैठा दिया। परन्तु, प्रतीहारों का प्रताप-सूर्य अस्त हो गया। इसी समय कालिजर के प्रतापी चन्देल, त्रिपुरी के कलचुरि और साम्भर के चौहान स्वतन्त्र हो गये। ये परस्पर भी जूझते रहे और उत्तर-पश्चिम की ओर से हैनेवाले आक्रमणों से भी टक्कर लेते रहे। त्रिपुरी (तेवार) के कलचुरियों में कर्ण नामक प्रबल प्रतापी राजा हुआ, जो सम्भवतः सन् १०३८ से १०८० ई० तक राज्य करता रहा। इसने दक्षिण में चौल-पाण्ड्यों तक को जीत लिया और उत्तर में काशी, चम्पारन (चम्पारण) और अवध तक को अपने में मिला लिया। अनुमान किया जाता है कि सरयू पार के प्रसिद्ध तिवारी व्राह्मण इस राजा के साथ ही इधर आये थे। कर्ण का राज्य बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रह सका। उसने काशी को अपनी राजधानी बनाने का संकल्प किया था; पर उसका संकल्प मन ही में रह गया; क्योंकि सन् १०८० ई० में मध्यदेश में एक नई शक्ति का उदय हुआ। काशी और कान्यकुञ्ज में गाहड़वार-वंशीय राजा चन्द्र का प्रताप प्रतिष्ठित हुआ। इस काल में केन्द्रीय शक्ति के शिथिल होने के कारण उत्तर भारत में घोर अराजकता फैल गई थी। चन्द्रदेव ने समस्त उपद्रवों को शान्त करके राज्य में सुव्यवस्था कायम की। गाहड़वार-वंश के लेखों में वडे गर्व के साथ चन्द्रदेव के इस महान् कार्य को स्मरण किया गया है—‘येनोदारतरप्रताप-शमिताशेषप्रजोपद्रवम् !’ प्रजा ने भी इस वंश के राजाओं को सिर-माथे लिया। इस प्रकार, लगभग दो सौ वर्षों तक कन्नीज, काशी, अवध तथा पश्चिमी और उत्तरी विहार—लगभग समूचा मध्यदेश या हिन्दीभाषी प्रदेश—गाहड़वार-राजाओं के हाथ रहा। इस वंश के सबसे प्रतापशाली राजा गोविन्दघन्द्र थे, जिन्हें एक तरफ बंगाल के प्रबल शासक पालों से लोहा लेना पड़ता था और दूसरी तरफ पश्चिम की ओर से निरन्तर हमला करनेवाले मुसलमानों से टक्कर लेना पड़ता था।

जिस काल के साहित्य की चर्चा हम कर रहे हैं, उस काल का मध्यदेश बहुत अधिक विक्षुद्ध था। यदि उस समय का कोई साहित्य नहीं मिलता तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। हमने पहले ही विचार किया है कि साहित्य के रक्षित रहने के तीन साधनों में से सबसे प्रबल और प्रमुख साधन है—राज्याश्रय। गाहड़वार-राजाओं के विषय में कई प्रकार के विश्वास विद्वानों में प्रचलित हैं। कुछ लोग उन्हें दक्षिण से आया हुआ बताते हैं और कुछ लोग पश्चिम से। इतना प्रायः निश्चित है कि ये लोग बाहर से आये थे और बाहर से आनेवाले अन्य लोगों की भाँति वे भी स्थानीय जनता से अपने को भिन्न समझते रहे और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास भी करते रहे। बहुत दिनों तक इस दरवार में देशी भाषा के साहित्य को कोई प्रश्न नहीं मिला। वे लोग वैदिक संस्कृति के उपासक थे और

बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को दान देकर काशी में वसा रहे थे। संस्कृत को इन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया। जिस प्रकार गौड़ (बंगाल) देश के पाल, गुजरात के सोलंकी और मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे, वैसा इस दरवार में नहीं हुआ। इस उपेक्षा का एक कारण तो यही जान पड़ता है कि ये लोग बाहर से आये हुए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घकाल तक एक नहीं हो पाये थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्यदेश में जिस संरक्षणशील धार्मिक विचारधारा की प्रतिष्ठा थी, उसमें संस्कृत-भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण-व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटे रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि में ऊँचा उठने का साधन था।

बहुत दिनों तक काशी और कान्यकुञ्ज के इन गाहड़वाल या गाहड़वार-राजाओं को राठौर समझा जाता रहा; क्योंकि जोधपुर के राठौर अपने को जयचन्द्र (अन्तिम गाहड़वाल-राजा) के वंशज बताते हैं। राठौर शब्द का संस्कृत रूप 'राष्ट्रकूट' है और इसी नाम का एक क्षत्रिय-वंश दक्षिण में बहुत दिनों तक शासन कर चुका है। इसीलिये, कुछ लोगों की धारणा थी कि दक्षिण के राष्ट्रकूट उत्तर के गाहड़वाल और जोधपुर के राठौर एक ही वंश के हैं। पर यह बात शायद ठीक नहीं है। दक्षिण के चन्द्रवंशी राष्ट्रकूटों के साथ जोधपुर के सूर्यवंशी राठौरों का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि काशी-कन्नीज के गाहड़वाल दक्षिण से ही आये थे। दो बातें इनके दक्षिण से आने के प्रमाण-रूप में उद्धृत की जाती हैं, जिनमें एक तो विशेष वजनदार नहीं है; पर दूसरी थोड़ी वजन रखती है। यह कहा जाता है कि जिन ब्राह्मणों को गोविन्दचन्द्र ने दान दिया था, वे उन गोत्रों और शाखाओं के हैं, जो आजकल उत्तर में नहीं मिलते, वल्कि दक्षिण में मिलते हैं, इसलिये ये ब्राह्मण दक्षिण से बुलाये गये थे और यह बात सिद्ध करती है कि गाहड़वाल दक्षिण से आए थे। लेकिन यह बात जँचती नहीं। उन दिनों गोविन्दचन्द्र के इलाके से ब्राह्मण दूर-दूर के प्रदेशों में बुलाये गये थे, गोविन्दचन्द्र को दक्षिण से ब्राह्मण बुलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी और हुई भी तो यह सूचित नहीं करता कि वे दक्षिण से आये थे। सेनों ने कान्यकुञ्ज ब्राह्मणों को बुलाया था; पर वे स्वयं कर्णाट देश से आये थे। ब्राह्मणों को विद्या और कर्मकाण्ड की कुशलता के कारण बुलाया गया होगा, यही ज्यादा सम्भव है। उड़ीसा के केसरी राजाओं ने भी अपने देश में कान्यकुञ्ज ब्राह्मणों को बुलाया था। इसी प्रकार, गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं के बारे भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने कान्यकुञ्ज से ब्राह्मणों को बुलाकर अपने राज्य में वसाया था। फिर, यह काल उत्तर के शास्त्रपरायण ब्राह्मणों के भागने का समय है। हो सकता है कि आज जो ब्राह्मण दक्षिण में मिल रहे हैं, वे इसी समय इधर से उधर चले गये हों।

परन्तु दूसरी बात कुछ ज्यादा वजनदार दिखाई देती है। चौदहवीं शताब्दी के जैन कवि नयचन्द्र सूरि ने जयचन्द्र से लगभग दो सौ वर्ष बाद एक नाटिका लिखी थी—रम्भामंजरी। यद्यपि यह पूरी नाटिका महाराष्ट्री-प्राकृत में है, फिर भी प्रथम अंक में वैतालिकों ने जयचन्द्र की स्तुति में इस प्रकार गाया है—

जरि पेखिला मस्तकावरि केश कलापु ।
तरि परिक्षता मयूराचे पिञ्च प्रतापु ॥

जरो नयन विदायु केला बेणी दण्डु ।
 तरी साक्षाज्जाला भ्रमर श्रेणी दण्डु ॥
 जरी दृगोचरी आला विशाल भालु ।
 तरी अर्द्धचन्द्र मण्डल भइल उण्यु जालु ॥
 श्रूजुगलु जाणूं द्वैधीकृत कन्दर्प चापु ।
 नयन निर्जित सुजला खंजन निःप्रतापु ॥
 मुखमण्डलु जाणूं शशांक देवताचे मण्डलु ।
 सर्वाङ्ग सुन्दर मूर्तिमन्त कामु ।
 कल्पद्रुम जैसे सुन्दर सर्वलोक आशा विश्रामु ॥

वताया गया है कि ये पद्य मराठी-भाषा में हैं और इनका 'रम्भामंजरी' नाटिका में होना इस बात का सबूत है कि जयचन्द्र के दरवार के वैतालिक मराठी-भाषा में गान करते थे और इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जयचन्द्र के पूर्वपुरुष दक्षिण से—किसी मराठी-भाषी क्षेत्र से—आये थे । लेकिन, यह युक्ति भी केवल ऊपर-ऊपर से ही वजनदार मालूम होती है । प्रथम तो यह नाटिका जयचन्द्र से दो सौ वर्ष बाद लिखी गई थी और इसमें कवि की कल्पना का अधिक हाथ है, ऐतिहासिक तथ्य का कम । हो सकता है कि जयचन्द्र स्वयं मराठी-भाषी हों और देशी भाषा में कुछ लिखने की इच्छा होते ही उन्हें अपनी मातृभाषा सूझी हो । दूसरे, यह भाषा शुद्ध मराठी नहीं है, वल्कि तत्काल प्रचलित काशी की भोजपुरी का मराठी-कवि द्वारा सुना हुआ रूप है । 'पेखिला', 'महल', 'जाणूं', 'जैसे' आदि प्रयोग भोजपुरी भाषा के हैं । मैंने मूल हस्तलिखित प्रति नहीं देखी, इसलिये इस पाठ के बारे में कुछ निश्चय के साथ नहीं कह सकता; परन्तु मुझे लगता है कि लेखकों और पाठकों की असावधानी से यह कुछ विकृत रूप में लिखा गया है । 'मयूरा चे' और 'देवता चे' जैसे पद इसमें मराठी की गवाही देते हैं । वस्तुतः, यह पद किसी मराठी-भाषी कवि का भोजपुरी में लिखने का प्रयास है ।' इससे अधिक कुछ भी सूचित नहीं होता ।

दामोदर भट्ट के 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की चर्चा प्रथम व्याख्यान में की जा चुकी है । ये प्रसिद्ध गाहड़वार-राजा गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित थे । ऐसा अनुमान किया गया है कि

१. सन् १९५६ ई० की मई मास की मराठी-पत्रिका 'सहाद्रि' में श्री ग० ह० खेर ने 'रम्भामंजरी तील एक उतारा' शीर्षक एक लेख लिखा है । उसमें उन्होंने लिखा है कि मैंने रम्भामंजरी को अप्रकाशित नाटिका कहा है । मैंने ठीक ऐसा ही तो नहीं कहा; परन्तु यह सत्य है कि मुझे मालूम नहीं था कि सन् १९८९ ई० में बम्बई से श्रीरंगनाथ दीनानाथ शास्त्री और श्रीकेवलदास ने इस पुस्तक को प्रकाशित कराया था । मैं इस सूचना के लिये श्रीखेर का कृतज्ञ हूँ । श्रीखेर का मत है कि इस पद्य की भाषा मराठी ही है, भोजपुरी नहीं और जंत्रचन्द्र जयचन्द्र नहीं है । दूसरी बात के बारे में पुरातन प्रबन्ध-संग्रह के 'जंत्रचन्द्र-प्रबन्ध' के आधार पर कहा जा सकता है कि जंत्रचन्द्र ही जयचन्द्र हैं । जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, मैं भी मानता हूँ कि यह पक्ष मराठी-भाषी कवि की रचना है । परन्तु उस कवि ने भोजपुरी का कुछ मिश्रण किया है । ऐसी मेरी धारणा है ।

पुस्तक राजकुमारों को काशी-कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने के उद्देश्य से लिखी गई थी। यदि यह अनुमान सत्य हो, तो मानना पड़ेगा कि इन राजकुमारों को घर में किसी और भाषा के बोलने की आदत थी। अर्थात्, गाहड़वाल बाहर से आये थे। परन्तु, यहाँ से इस वंश में देशी भाषा की ओर झुकने की प्रवृत्ति आई थी, यह भी पर्याप्त स्पष्ट है। काशी-कान्यकुब्ज-दरवार में एक बहुत ही प्रवीण और विद्यावन्त मन्त्री थे, जिनका नाम विद्याधर था। उन्हें 'प्रवन्धचिन्तामणि' में जयचन्द्र का मन्त्री तथा 'सर्वधिकार-भारधुरन्धर' और 'चतुर्दश विद्याधर' कहा गया है। इस कवि की कुछ कविताएँ 'प्राकृतपैंगल' में मिल जाती हैं, जो बताती हैं कि जयचन्द्र के दरवार में विद्वान् मन्त्रिगण भी देशभाषा में रचना करते थे। यह रचना राजस्तुतिपरक है, इसलिए यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जयचन्द्र इन रचनाओं का मान करते थे। एक कविता इस प्रकार है—

भग्र भंजिग्र वज्ञा भग्नु कर्लिगा
तेलंगा रण मुक्तिक चले।
मरहट्ठा छिट्ठा लग्मिग्र कट्ठा
सोरट्ठा भग्र पाम्र पले॥
चंपारण कंपा पब्बय झंपा
ओत्था ओत्थी जीव हरे।
काशीसर राणा किग्रउ पग्राणा
विज्जाहर भण मंतिवरे॥

—प्राकृतपैंगल, २४४।

यह विद्याधर जयचन्द्र के बहुत अधिक विश्वासपात्र थे और केवल कवि ही नहीं, कविता के बड़े सुन्दर मर्मज्ञ भी थे। 'पुरातनप्रवन्ध-संग्रह' में इनकी उदारता और चतुरता की अनेक कहानियाँ मिलती हैं। कहते हैं, एक बार राजा जयचन्द्र को जब मालूम हुआ कि परमर्दी 'कोपकालार्णिरुद्र', 'अबन्ध्यकोपप्रसाद' और 'रायद्रहबोल' (?) आदि विश्वदधारण कर रहा है, तो उसने कटक साजकर उसकी राजधानी (कल्याणकटक) को धेर लिया और साल भर तक धेरा डाले पड़ा रहा। परमर्दी ने अपने मन्त्री उमापतिधर को बुलाकर कहाकि कुछ ऐसा करो, जिससे जयचन्द्र अपनी सेना हटा ले। उमापतिधर ने 'जो आज्ञा' कहकर प्रस्थान किया। वह सायंकाल सीधे मन्त्री 'विद्याधर' के पास पहुँचा और एक मुभाषित लिखकर मन्त्री के पास भिजवा दिया—

उपकारसमर्थस्य तिष्ठन् कार्यातुरः पुरः।
मूर्त्या यामार्त्तिमाचष्टे न तां कृपणया गिरा॥

[कार्यार्थी उपकार करने में समर्थ व्यक्ति के सामने पहुँचकर जितना अपनी सूरत से कह जाता है, उतना वह कृपण वापी से नहीं कह सकता।]

यह श्लोक विद्याधर के मन में चुभ गया। उस समय राजा जयचन्द्र सो रहा था। पलंग-समेत उसे उसी समय उठाकर मन्त्री ने किले से पाँच कोस दूर पहुँचवा दिया। सबेरे उठकर राजा देखता है तो वह किले से बाहर पड़ा हुआ है, सेना भी नहीं है। केवल विद्याधर

मन्त्री सामने खड़ा है। विद्याधर से पूछा और उसने सब ठीक-ठीक कह दिया। राजा वहुत कुछ हुआ। विद्याधर ने कहा, 'महाराज, क्रोध क्यों कर रहे हैं? मैं ब्राह्मण हूँ, मेरी कण-वृत्ति तो बनी हुई है। चलता हूँ।' राजा घवराया। बोला, 'मैं तुमपर इसलिए नाराज नहीं हूँ कि तुमने इतना सब क्यों किया; बल्कि इसलिये नाराज हूँ कि तुमने मेरी लीला को विगड़ दिया। इस सुभाषित पर तुमने मेरा सारा राज्य क्यों नहीं दे दिया!' परमर्दी को जब यह वात मालूम हुई तो उसने उन विरुद्धों को त्याग दिया। राजा ने उसका सब-कुछ लौटा दिया और घर लौट आया। राजशेखर सूरि-कृत 'प्रबन्धकोष' में थोड़े परिवर्तन के साथ यही कहानी लक्षणावतीपुरी के राजा लक्षणसेन और उनके मन्त्री कुमारदेव के पराभव के रूप में कही गई है। उक्त पुस्तक के अनुसार जयन्तचन्द्र (जयचन्द्र) ने कालिजर गढ़ का नहीं, बल्कि लक्षणावतीपुरी का घेरा डाला था। ये कहानियाँ विद्याधर के निर्भीक चरित्र, उदार हृदय और जयचन्द्र की विश्वासपात्रता की सूचक हैं। इतना उदार और प्रभावशाली मन्त्री देशी भाषा में कविता लिखता था, यही इस वात का सबूत है कि आखिरी दिनों में गाहड़वाल-दरवार में और दरवारों की ही भाँति भाषा-कविता का सम्मान होने लगा था। परन्तु, ठीक उसी समय दुर्भाग्य का आक्रमण हुआ और गाहड़वाल-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि जयचन्द्र के दरवार में भट्ट केदार थे, जिन्होंने 'जयचन्द्रप्रकाश' नामक एक ग्रन्थ लिखा था, जो अब नहीं मिलता। शुक्लजी ने एक 'भट्ट भणन्त' की चर्चा की है^१ जिसमें केदार को शहाबुद्दीन गोरी का दरवारी कंवि बताया गया है; पर वे इस 'भट्ट भणन्त' को विश्वास-योग्य नहीं मानते। परन्तु, रासो के अट्टावनवें समय में सचमुच ही एक दुर्गा केदारभट्ट की विस्तृत चर्चा है, जो शहाबुद्दीन के दरवार से आया था और कवि चन्द्र के साथ उसका केवल वाग्युद्ध ही नहीं हुआ था, बल्कि तन्त्र-मन्त्र के जोर की आजमाइश भी हुई थी। इस प्रकार, यह वात केवल भट्ट भणन्त नहीं है, किसी पुरानी अनुश्रुति की स्मारक है। इसी प्रकार, रासो के उन्नीसवें समय में माधो भाट को शहाबुद्दीन का राजकवि बताया गया है। यह व्यक्ति शहाबुद्दीन का विश्वासपात्र था और वह पृथ्वीराज के दरवार की गुप्त खबरें संग्रह कर रहा था। वह कई भाषाएँ बोल सकता था। हिन्दुओं से तो हिन्दुओं की भाषा बोलता था और मुसलमानों से मुसलमानों की। जो जैसे समझ सकता था, उसे माधो भाट उसी प्रकार समझा देता था—

हिन्दू हिन्दुग्र वचने रचने मेच्छाय मेच्छयं वचनं ।

जं जं जेम समुज्ज्ञं तं तं समुज्जाय माघवं भट्ट ॥

१. प्रथम विद्याता ते प्रगट मए बन्दीजन

पुनि पृथुज्ञ तें प्रकास सरसान है ।

माने सूत सौनकम बाँचक पुरान रहे,

जस को बखाने महासुख सरसान है ॥

चंद चौहान के केदार गोरी साह ज के,

जंग अकबर के बखाने गुनगान है ।

काव्य कंसे मांस अजनास धनभाँटन को

लूटि धरे ताको खुरा खोज मिटि जान है ॥

धर्मायन (ध्रमाइन) कायस्थ ने इस कवि को दरवार के भेद बता दिये थे। इन वातों से जान पड़ता है कि परम्परया यह वात विदित थी कि शहावुद्दीन के दरवार में हिन्दू भाट सम्भान पाते थे। सम्भवतः, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जिसे मधुकर भट्ट कहते हैं, वे माधो ही हों। यह वात सम्भव जान पड़ती है। क्योंकि, महमूद ने बहुत थोड़ा पहले ही गजनी के ब्राह्मण राजाओं से राज्य छीना था और वहाँ तब भी बहुत-से हिन्दू थे और कुछ पुराने बन्दी जन भी उसके आश्रय में रह गये हों तो आश्चर्य करने की वात नहीं है। जो हो, इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि सुदूर गजनी में भी कुछ भाषा-कवि वर्तमान थे; परन्तु उनकी कविता कौसी होती थी, भाषा कौसी थी, यह जानने का कोई उपाय नहीं है। एक वात और भी विचारणीय है—

‘शिवसिंहसरोज’ (पृ० ३६०) में बताया गया है कि केदार कवि अलाउद्दीन गोरी के दरवार में रहता था। ‘गोर’ गजनी के उत्तर-पश्चिम में एक पहाड़ी इलाका है। यहाँ पहले हिन्दुओं की वस्ती भी थी और राज्य भी था। सुलतान महमूद के काल में ये लोग मुसलमान होने लगे। महमूद के बाद भी गजनी के अधिकार में ही गोर का इलाका था। सुलतान वहराम ने गोर के सरदार कुतुबुद्दीन और उसके भाई सईफुद्दीन को क्रूरतापूर्वक मरवा डाला। इनका एक और भाई अलाउद्दीन गोरी था। उसने जब इस क्रूरतापूर्ण हत्या की वात सुनी तब बदला लेने का निश्चय किया। वहराम बहुत बड़ी गजसेना के साथ गोर पर चढ़ आया। अलाउद्दीन ने उसे हरा दिया और फिर गजनी पर क्रोधपूर्वक आक्रमण करके उसे जलाकर छार-खार कर दिया। इस क्रूर अग्निकाण्ड के कारण उसे ‘जहाँ सोज’ कहकर स्मरण किया गया है। ‘जहाँ सोज’ अर्थात् ‘जगद्वाहक’। इसी का भतीजा मुहम्मद गोरी था जो अपने भाई गयामुहीन की ओर से राज्य करता था। यह बहुत महत्वाकांक्षी था और इसने केवल गजनी जीतकर ही सन्तोष नहीं किया; बल्कि भारतवर्ष में धावे-पर-धावे बोल दिये। इसी का दूसरा नाम शहावुद्दीन (धर्म का ज्वलन्त नक्षत्र) था। अलाउद्दीन के थोड़ा पहले हिन्दुओं का राज्य था और उसका वंश भी सम्भवतः एकाध पुश्त पहले ही मुसलमान हुआ था। तुर्की की तरह वे पुस्तनी मुसलमान नहीं थे। इसलिए, यह सम्भव जान पड़ता है कि माधव और केदार भट्ट अलाउद्दीन के दरवार में रहे हों और शहावुद्दीन ने भी उन्हें अपना विश्वासपात्र समझा हो। बाद में जयचन्द्र के पतन के बाद लोगों में यह धारणा बन गई हो कि ये लोग जयचन्द्र के कवि होंगे; क्योंकि राजपुताने में इस प्रकार का विश्वास किया जाने लगा था कि जयचन्द्र मुहम्मद गोरी का मित्र था। रासों में तो जयचन्द्र की मुसलमानी सेना का भी उल्लेख है।

भट्ट केदार और भट्ट मधुकर गोरी-दरवार के कवि हों या जयचन्द्र के दरवार के, उनकी रचनाओं का कुछ पता नहीं चलता और इसलिए उनके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य है कि काशी-कन्नौज के दरवार में अन्तिम दिनों में भाषा-कविता का मान होने लगा था। प्राकृतपैगल में किसी या किन्हीं अज्ञात कवियों की रचनाएँ उदाहरण-रूप में उद्धृत हैं जो स्पष्ट ही काशीश्वर (सम्भवतः जयचन्द्र) की महिमा बखानने के लिये लिखी गई थीं। कविताओं में बड़ी ही प्रौढ़ भाषा का नमूना मिलता है। दो-एक उदाहरण दिये जा रहे हैं—

रे गोड थक्कन्ति ते हृथिं जूहाइं । पल्लट्टि जुज्जन्ति पाईकक बूहाइं ।
कासीसु राआ सरासार अग्गेण । की हृथिं की पत्ति की वीरवग्गेण ॥

[अरे गौड़ (देश के राजा) ! तेरे हाथियों के यूथ थक गये हैं, पदातिक सेना के व्यूह पलटकर जूझ रहे हैं। जब काशी के राजा के वाणों की वर्षा होने लगती है तब कोई भी, क्या हाथी क्या पैदल सेना और वीरवर्ग—सामने नहीं ढट सकता ।]

राअह भग्गंता दिग लग्गंता, परिहर हअ गअ घर घरिणी ।
लोरहि भर सरवरु पश्र अरु परिकरु लट्टोइ पिट्टई तणु घरनी ॥
पुणु उट्ठइ संभलि करु दंतंगुलि वाल तनअ कर जमल करे ।
कासीसरु राआ राहलु काआ, करु माआ पुण थप्प घरे ॥

[शत्रु राजा अपने हाथी, घोड़े, घर और घरनी को छोड़कर दिग्न्तरों में भाग गये। उनके पदातिक और परिकर लोग तथा परिवार की स्त्रियाँ छाती पीटकर रोने लगीं और धरती पर लोटने लगीं। उनके आँसुओं से तालाव भर गये। फिर वे सँभलकर उठीं, दाँतों तले अंगुली दबाकर वालक पुत्रों को गोद में लिये हुए हाथ जोड़कर उपस्थित हुईं। स्नेहल कायावाले काशीश्वर ने उनपर दया की और फिर से उन्हें अपने-अपने पदों पर प्रतिष्ठित किया ।]

इसी प्रकार की और भी कई रचनाएँ मिलती हैं। राहुलजी का अनुमान है कि ये सब रचनाएँ विद्याधर की होंगी। ऐसा जान पड़ता है कि दो सौ वर्षों तक काशी में और कान्यकुब्ज में राज्य करने के कारण गाहड़वाल-नरेश काशी और कान्यकुब्ज की भाषा को अपनी भाषा समझने लगे थे और शुरू-शुरू के गाहड़वालों में अपने को स्थानीय जनता से विशेष और भिन्न समझने की जो प्रवृत्ति थी, वह कम होने लगी थी। गोविन्दचन्द्र के सभापण्डित दामोदरभट्ट ने राजकुमारों को काशी की भाषा में संस्कृत सिखाने का प्रयत्न किया था और उसका परिणाम यह हुआ कि राजकुमार अब अपने को इसी प्रदेश के लोगों में से समझने लगे थे और धीरे-धीरे देशी भाषा को भी इस दरवार में प्रोत्साहन मिलने लगा था। दुर्भाग्यवश जयचन्द्र के साथ ही प्रोत्साहन और प्रवृत्ति दोनों का अन्त हो गया।

परन्तु, इतना सत्य है कि ये गाहड़वाल कहीं बाहर से आये थे। कहाँ से आये थे, यह विवादास्पद है। जोधपुर के राठोड़ अपने को जयचन्द्र का वंशज मानते हैं और बदायूँ में भी महमूद के आक्रमण के समय कोई राठोड़वंशीय राजा चन्द्र राज्य करता था। यह नहीं बताया गया कि वह बदायूँ में कहाँ से आया था; परन्तु अनुमान कर लिया जा सकता है कि गजनी के अमीरों के दबाव से जो राजपूत पंजाब या गान्धार छोड़कर पूरब की ओर आये, उन्हीं में यह राजवंश भी था। चन्द्र की छठी पुश्त में मदनपाल हुआ था जिसकी प्रशंसा में कहा गया है कि उसी की शक्ति के कारण हम्मीर गंगा की ओर नहीं आ सका। हम्मीर अर्थात् अमीर जो हो, यह अनुमान किया गया है कि इसी वंश के प्रथम राजा चन्द्र ने और भी आगे बढ़कर कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया था। यह सम्भव जान पड़ता है। यह अनुमान यदि ठीक हो तो गाहड़वाल दक्षिण से नहीं, पश्चिम से आये थे। काशी-

कान्यकुञ्ज में उस समय तक भी दक्षिण के राष्ट्रकूटों की स्मृति बनी थी। वे जैन थे। सम्भवतः, उनसे अपने को भिन्न घोषित करने के लिये ही इन राजाओं ने अपनी प्रशस्तियों में 'राष्ट्रकूट' शब्द का व्यवहार नहीं किया; पर उनके घर में यह परम्परा बराबर बनी रही कि वे 'राठोड़' हैं। मुझे लगता है कि काशी के आस-पास के गाहड़वाल इन्हीं गाहड़वालों के उत्तराधिकारी हैं। गोत्र और कुल का विवाद खड़ा करके इनको जोधपुर के राठोड़ों से या काशी के गाहड़वाल-राजाओं से भिन्न बतानेवाले इस देश में राजपूत गोत्रों की परम्परा से एकदम अपरिचित हैं।

परन्तु यह थोड़ी अवान्तर बात आ गई। प्रकृत प्रसंग यह है कि गाहड़वाल-राजा शुरू-शुरू में अपने को इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय नहीं दे सके और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था वहाँ तक का कोई देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। अन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा के साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे; किन्तु तबतक दुर्भाग्य का प्रहार हुआ और सम्पूर्ण उत्तरी भारत विदेशी शासन से आक्रान्त हो गया। इन नये शासकों को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

उधर अजमेर के चौहान उस प्रदेश के पुराने वाशिन्दे थे। सन्-ईसवी की आठवीं शताब्दी के मध्यभाग में ही सपादलक्ष (सवा लाख लगान का देश) या शाकम्भरी क्षेत्र (साँभर) में सामन्तसिंह ने चौहानवंश का राज्य स्थापित किया था। उसने उसी समय सिन्ध की ओर से बढ़ते हुए अरबों से कस के लोहा लिया था और इस प्रकार चौहानों की वह दीर्घ-परम्परा स्थापित की थी जो तृतीय पृथ्वीराज के समय तक मुस्लिम-वाहिनी से निरन्तर टक्कर लेने में प्रख्यात हो चुकी है। महमूद ने साँभर को नहीं छोड़ा था। इसलिए यह राज्य बचा रह गया था। प्रथम पृथ्वीराज के पुत्र अजयपाल ने साँभर से अपनी राजधानी अजमेर में हटा ली थी। अजमेर का नाम अजयसिंह के नाम पर ही है। इस वंश में अर्णोराज और चतुर्थ वीसलदेव (विग्रहराज) बहुत ही प्रतापी और कविकल्पवृक्ष राजा हुए। वीसलदेव स्वयं अच्छे कवि थे। उनका लिखा एक प्रस्तरखण्ड पर क्षोदित 'हरकेलि नाटक' आंशिक रूप में प्राप्त हुआ है।^१ इसका आधार किरातार्जुनीय काव्य है, इसमें राजा स्वयं अर्जुन का स्थानापन्न है। महादेवजी उसे दर्शन भी देते हैं। इनके राजकवि सोमदेव ने 'ललितविग्रहराज' नाम का एक नाटक लिखा था। यह भी एक प्रस्तरखण्ड पर आंशिक रूप में क्षोदित मिला है। इसमें इन्द्रपुर के राजा वसन्तपाल की पुत्री देसलदेवी के साथ वीसलदेव के प्रेम का वर्णन है। राजा और राजपुत्री कल्पित जान पड़ते हैं और उन दिनों के ऐतिहासिक समझे जानेवाले काव्यों की प्रकृति का सुन्दर परिचय देते हैं। इसी वीसलदेव के काल्पनिक प्रेम-कथानक को परवर्ती काव्य वीसलदेवरासो में वर्णन किया गया है। यहाँ प्रेमपात्री मालवा के परमाल राजा भोज की कल्पित पुत्री राजमती है। इस काव्य में वीसलदेव रूठकर उड़ीसा की ओर जाता है; परन्तु 'ललितविग्रहराज' में वह प्रिया के पास यह सन्देश भिजवाता है कि पहले हमीर (=अमीर) का मानमर्दन कर लूँ तब उसके पास आऊँगा। दोनों ही कवियों ने ऐतिहासिक

१. इं० ए० जिल्द २०, १८९१; पृ० २०१—२२२ में रोमन अक्षरों में पाठ छपा है।

तथ्यों की परवा न करके उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार सम्भावनाओं पर जोर दिया है। वीसलदेव कवियों का आश्रयदाता था और उसके दरवार में भाषा-काव्य की थोड़ी प्रतिष्ठा भी थी। नरपति नाल्ह के बारे में तो, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह सन्देह ही है कि वह कव का कवि है; पर अनुश्रुतियाँ सिद्ध करती हैं कि वीसलदेव के भाषा-कवियों का मान था। वह स्वयं बड़ा प्रतापी राजा था। काशी-कान्यकुब्ज के राजाओं की भाँति यह वंश बाहर से नहीं आया था और साधारण जनता की भाषा की उपेक्षा नहीं करता था। दिल्ली के लौहस्तम्भ पर उसने गर्वपूर्वक घोषणा की थी कि मैंने विन्ध्याचल से हिमालय तक की सभी भूमि को म्लेच्छ-विहीन करके यथार्थ आर्यावर्त्त बना दिया है। अपने वंशजों को पुकारकर वह कहता है कि मैंने तो हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती देश को करद बना लिया है, परन्तु वाकी पृथ्वी को जीतने में तुमलोगों का मन उद्योग-शून्य न हो, इस बात का ध्यान रहे।' वीसलदेव नाम ही अपन्नंश नाम है। 'प्रवन्धचिन्तामणि' में एक मजेदार कहानी है, जिसमें बताया गया है कि वीसलदेव ने अपना नाम बदलकर विग्रहराज क्यों रखा? वीसलदेव का एक सान्धिविग्रहिक 'कुमारपाल' की सभा में आया। उसने 'वीसल' को संस्कृत 'विश्वल' [विश्व को (जीत) लेनेवाला] से व्युत्पन्न बताया। कुमारपाल के मन्त्री कपर्दी ने 'विश्वल' (वि=पक्षी, श्वल=भागनेवाला) का अर्थ किया—चिड़ियों की तरह भागनेवाला। यह सुनकर वीसलदेव ने अपना नाम बदल कर विग्रहराज रखा। पर कपर्दी ने इसका भी बेढ़ंगा अर्थ सिद्ध कर दिया। उसने बताया कि इस शब्द का अर्थ हुआ शिव और ब्रह्मा की नाक काटनेवाला (वि+ग्र+हर+अज)! तब वीसलदेव ने अपना नाम 'कविवान्धव'-रखा। यह कहानी तो परवर्ती काल का विनोद है; किन्तु इससे एक बात सिद्ध होती है कि वीसलदेव अपने को 'कविवान्धव' कहता था और उसका यह कहना ठीक था। 'पुरातनप्रवन्ध-संग्रह' में उसकी रानी नागल देवी को संगीतकला में अत्यन्त निपुण बताया गया है। राजा वीसलदेव स्वयं संगीत से एकदम अनभिज्ञ था। रानी ने उसे संगीत-विद्या सिखाई थी। जैन-प्रवन्धों से वीसलदेव के समय की कुछ देशी भाषा की रचनाओं का भी परिचय मिल जाता था।

वीसलदेव के राज्य में जगड़ साहू (वसाह जगड़क) वड़े प्रसिद्ध दानी थे। इन्होंने

१. आविन्ध्यादाहिमाद्वेविरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसङ्गः-

दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसङ्गः।

आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनामि-

देवः शाकम्भरीद्वो जगति विजयते वीसलः क्लोणिपालः ॥

झूते सम्प्रति चाहमानतिलको शाकम्भरीभूपतिः

श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मजान् ।

अस्तमिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भ्रुवः

शेषस्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः ॥

अकाल के समय जनता की बड़ी सेवा की थी और तत्कालीन कवियों ने इनके दान की बड़ी प्रशंसा की है—

नियतिदानदाता हरिकान्ताहृदयशृङ्गारः ।
दुर्भिक्षसन्निपाते त्रिजगडु जगडु चिरं जीयात् ।

—पु० प्र०, टि० च० ।

[नियति अर्थात् संरक्षित निधि को भी दे देनेवाले, लक्ष्मी के हृदय का हार रूपी शृङ्गार, दुर्भिक्ष रूप सन्निपात-रोग के लिये त्रिजगडु (ओषधि) जगडु साह चिरजीवी हों ।]

देशी भाषा में इनकी दानशाला की प्रशंसा में कुछ पद्य प्रचलित हैं । एक दोहा मिलता है, जिसमें बताया गया है कि कलियुग में जगडु साह की दानशाला के समान कितनी दानशालाएँ हैं ! इस दोहे की प्रथम पंक्ति कुछ अस्पष्ट है—

नव करवाली मणिग्रडा तिहिं अग्नला चियारि ।

दानसान जगड तणी कित्ती कलिहि मझारि ॥

—पु० प्र०, टि० च० ।

इसका पाठ 'उपदेशतरंगिणी' (पृ० ४१) में इस प्रकार है—

नउ करवाली मणियडा ते अग्नीला च्यारि ।

दानसाल जगडूतणी दीसइ पुहवि मंज्ञार ॥

जगडु वडे सीधे-सादे थे । उस समय के सभी राजाओं को उन्होंने अकाल में सहायता देने के लिये अशर्फियों से सहायता की थी । वीसलदेव को आठ हजार स्वर्णमुद्राएँ दी थीं, लाहौर के तुर्क अमीरों को १६ हजार और सुलतान को २१ हजार स्वर्णमुद्राएँ दी थीं !—

अट्ठय मूड सहस्रा वीसल देवस्य सोल हम्मीरा ।

एकवीसा सुलताना पयदिना जगडु दुक्काले ॥

'मूड' का अर्थ मैंने 'मुद्रा' कर लिया है । पाठकों को जानकारी के लिये यह बता देना आवश्यक है कि जिस प्रसंग में इन श्लोकों को किसी ने 'पुरातनप्रवन्ध-संग्रह' के हाशिए पर लिखा है, वहाँ १८,००० मूढक चना वीसलदेव को देना कहा गया है जो माप-विशेष का वाचक है । यदि यहाँ 'मूड' शब्द 'मूढक' के अर्थ में प्रयुक्त समझा जाय तो अर्थ माप का ही होगा । परन्तु, यह श्लोक उक्त प्रसंग का अंग नहीं है और अन्य ग्रन्थों में भी मिल जाता है । इसलिये मैंने 'मुद्रा' अर्थ ही ठीक समझा है ।

इस प्रकार के उदार दानी धनकुबेर के बारे में प्रसिद्ध है कि वे इतने सीधे-सादे वेश में रहते थे कि एक बार राजा वीसलदेव उन्हें पहचान ही नहीं सके, और जब परिचय कराया गया तब आश्चर्य के साथ पूछ बैठे कि ऐसा वेश क्यों बनाया है ? जगडु ने नम्रता के साथ उत्तर दिया कि महाराज, कपड़े और गहनों से शोभा नहीं बढ़ती; मनुष्य गुण से शोभा पाता है । गहना पहनकर छोटी थंगुलियाँ सुशोभित होती हैं, मध्यमा तो अपनी बड़ाई से ही बड़ी लगती है !—

तन्वन्ति डम्बरभरैर्महिमा न मन्ये श्लाघ्यो जनस्तु गुणगौरवसम्पदैव ।

शोभा विभूषणगुणैरितराङ्गुलीनां ज्येष्ठत्वमेव रुचिरं सल मध्यमाया ॥

ऐसे उदार और सरल दानवीर की महिमा विखानने के लिये कवियों की भाषा यदि मुखर हो उठी तो इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है। वीसलदेव का विरुद्ध जगड़ के दान पर अवलभित था—

बीसल दे विरुद्धं करइ जगडु कहावइ जी ।

तुउ परीलइ फालिसउ एउ परीसइ घी ॥

[किसी कवि या याचक की उक्ति है कि बीसलदेव तो केवल विरुद्ध धारण करता है या यश कमाता है और जगड़ से 'जी' कहवाता है। किन्तु, हे बीसलदेव, तुम तो रुखी (फालिस = परुष) परसते हो और वह घी परसता है!]

इस प्रकार के अजमेर में आगे चलकर चन्द्र वरदाई-जैसे महाकवि का होना उचित ही है। समुद्र में ही कौस्तुभमणि के उत्पन्न होने की सम्भावना सोची जा सकती है।

इसी प्रकार, कार्लिजर के चन्देलों का वंश बहुत काल से बुन्देलखण्ड में राज्य कर रहा था। इन चन्देलों ने अपनी प्रशस्तियों में अपने को चन्द्राक्षेय गोत्र का कहा है। पण्डितों में इस गोत्र को लेकर भी थोड़ा चखचख है। कुछ लोग कहते हैं कि चन्द्राक्षेय शब्द 'चन्देल' शब्द के आधार पर बना ली गई परवर्ती कल्पना है। मुझे ऐसा लगता है कि यह शब्द वस्तुतः पुरोहित के गोत्रनाम का अपश्रंश रूप है। अनुमान किया जा सकता है कि इन क्षत्रियों के पुरोहित वही शाण्डिल्यगोत्री ब्राह्मण थे, जिन्हें कभी कर्ण के साथ सरयू पार आना पड़ा था और इस शाण्डिल्य का ही अपश्रंश रूप 'चन्देल' है। बाद में इसका मूल अर्थ भुला दिया गया और चन्देल का संस्कृत रूप उसी प्रकार 'चन्द्राक्षेय' बना लिया गया, जिस प्रकार 'त्रिपुर' या 'तेवार' के रहनेवाले तिवारी ब्राह्मणों ने 'तिवारी' शब्द को लिपाठी के रूप में संस्कृत बनाया। इन राजाओं के दरवार में भी भाषाकवि का मान था। इनका सबसे अन्तिम प्रतापी राजा परमर्दी या परमाल था जिसने ११६५ से १२०३ ई० तक राज्य किया। इसी के दरवार में वणाफर-कुल के प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल थे। पृथ्वीराज से परमर्दी का युद्ध हुआ था जिसका वर्णन जगनिक के महोवाखण्ड में हुआ है। इसमें परमर्दी हार गया और आल्हा-ऊदल काम आये। पृथ्वीराज ने महोवे में अपने प्रसिद्ध सरदार पञ्जून को रखा। पृथ्वीराज का एक लेख मदनपुर में प्राप्त हुआ है, जिससे इस घटना की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। लेकिन, इस युद्ध में हारने के बाद भी परमर्दी जीवित था और शक्तिशाली भी बना रहा। सन् १२०३ ई० में वह कुतुबुद्दीन से लड़ा था। पृथ्वीराज से उसकी लड़ाई सन् ११८२ ई० में हुई थी। उस समय इस महाप्रतापी राजा का बल टूट गया होगा और वह आसानी से आगे चलकर मुसलमानों के हाथ पराजित हो सका होगा। इन बीस वर्षों के भीतर ही कभी जगनिक का वह ओजपूर्ण काव्य लिखा गया होगा, जो बहुत दिनों तक आल्हा और ऊदल की स्मृति में लोककण्ठ में जीता रहा और बहुत दिनों तक अपने क्षेत्र में ही सीमित बना रहा। फिर कई सौ वर्ष बाद अत्यन्त परिवर्तित रूप में लिखवाया गया। यह स्वाभाविक भी था। क्योंकि, जब काव्य के आश्रयदाता राजा उच्छ्वस हो गये तब उसका एकमात्र सहारा जननित ही रह गया। किसी धर्म-सम्प्रदाय का तो उसे सहारा मिलना नहीं था, इसलिए वह काव्य बहुत परिवर्तित रूप में प्राप्त हुआ है; परन्तु चन्देल-दरवार में भाषा-काव्य के सम्मानित होने का सबूत अवश्य देता है।

दूसरी ओर गुजरात और मालवा के राजवंश थे। गुजरात के राजा कुमारपाल तो बाद में जैनाचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से जैन हो गये थे। यद्यपि कुछ लोग उनके जैनधर्म-ग्रहण के बारे में सन्देह ही करते हैं; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं करता कि वे जैन-प्रभाव में आये थे और जैनधर्म को उन्होंने वहुत प्रोत्साहन भी दिया। मालवा के परमार वैदिक धर्मानुयायी थे; परन्तु उन्होंने देश्यभाषा की उपेक्षा नहीं की। गुजरात के राजाओं का आश्रय पाने के कारण वहाँ अपभ्रंश देश्यभाषा खूब फली-फली। मान्यवेट के राष्ट्रकूटों ने भी अपभ्रंश का मान किया। उत्तर भारत के स्वयम्भू और पुष्टदन्त-जैसे प्रतिभाशाली कवियों की कृतियाँ वहाँ सुरक्षित हुईं। उधर पूर्व में, पश्चिमी बंगाल में, गौड़ों का दुर्वान्त राज्य था। ये लोग बौद्ध थे और उन्होंने तत्कालीन सहजयानी बौद्धधर्म को प्रोत्साहन और संरक्षण दिया। इन पालवंशी गौड़ राजाओं की कृपा से ही बौद्ध सिद्धों के कुछ देशीभाषा के गान लिखित हुए, जो बाद में नेपाल-दरवार का राज्याश्रय पाकर किसी प्रकार सुरक्षित रह गये हैं। पर इन बौद्ध राजाओं की देशी भाषा और बौद्धधर्म को प्रश्रय देने की प्रतिक्रिया भी हुई और पूर्वी बंगाल में कर्णाट देश से आये हुए सेन राजाओं का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने संस्कृत-भाषा और ब्राह्मणधर्म को बंगाल में फिर से सहारा दिया। सेन राजा गाहड़वारों की भाँति पक्के वैदिक मतानुयायी थे और स्थानीय लोगों से अपने को भिन्न और श्रेष्ठ समझते थे। कुलीनता के अभिमान को इन राजाओं ने बंगाल में बद्धमूल कर दिया। यही कारण है कि इस काल में पूर्वी बंगाल में देशी भाषा का साहित्य नहीं मिलता। पाल राजाओं की कृपा से सुरक्षित साहित्य वर्तमान विहार के पूर्वी और पश्चिम बंगाल के पश्चिमी इलाकों में लिखित साहित्य है। निस्सन्देह, उनमें मध्यदेश की भाषा और साहित्य के भी कुछ चिह्न हैं; क्योंकि पाल राजाओं का सम्बन्ध वरावर काशी और कान्यकुब्ज से बना रहा। यह सम्बन्ध तीन प्रकार से रक्षित रहा—युद्ध से, विवाह से, तीर्थयात्रा से। इस प्रकार इस साहित्य के आधार पर हम मध्यदेश की साहित्य-साधना का आभास पा सकते हैं। सुप्रसिद्ध महाराज गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी गौड़ के राजा रामपाल के मामा महत की दौहिती थीं और उन्हीं के सामन्त देवरक्षित की पत्नी। उन्होंने सारनाथ में बौद्ध विहार बनवाया था। उनका एक दानपत्र प्राप्त हुआ है। इस सम्बन्ध से यह सूचित होता है कि युद्ध-विग्रह होते रहते थे और विवाह-सम्बन्ध भी चलते ही रहते थे। तीर्थयात्रा तो थी ही। अस्तु।

गाहड़वालों के शासनकाल में समूचा हिन्दी-भाषी क्षेत्र स्मार्तमतानुयायी था। उनका प्रभाव जब क्षीण हो गया और अजमेर, कार्लिजर आदि अधीनस्थ प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए तब भी स्मार्तमत ही प्रवल रहा। इस समय शैवमत का भी बड़ा प्रभाव था। सिद्धियों की महिमा प्रतिष्ठित हो गई थी। शैवमतानुयायी नाथयोगियों, रसेश्वरमत के माननेवाले रस-सिद्धों और मन्त्र-तन्त्र में विश्वास करनेवाले शक्ति-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था। उन दिनों के साहित्य में इनकी बड़ी चर्चा आती है, परन्तु जैनों की भाँति इन शैव-साधकों के संगठित मत नहीं थे और देशी भाषा पर विशेष अनुराग भी नहीं था। फिर इनके उपदेश में साधारण जनता के सम्बन्ध में बड़ी अवज्ञा का भाव है। वे इन अघम जीवों को भय ही दिखाते थे। चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भरमते रहनेवाले,

काम-क्रोध के कीड़े, मायापंक में आपाद-मस्तक डूबे हुए, अज्ञानी जीव केवल धृणा करने और तरस खाने के पात्र माने जाते थे। गृहस्थ इन योगियों से डरता था। इद्वनवतूता ने ग्वालियर-कार्लिजर में इन योगियों को देखा था। उन दिनों लोग इनसे भयभीत थे; क्योंकि उनका विश्वास था कि ये आदमियों को खा जाते हैं! इस प्रकार, जनता के प्रति अवज्ञा और धृणा का भाव रखनेवाले लोग लोकभाषा में कुछ लिखते भी हों तो वह लोक-मनोहर हो नहीं सकता। कुछ थोड़ी-सी रचनाएँ इन योगियों की मिल जाती हैं; पर एक तो उन्हें जैन पुस्तकों के समान संगठित भाण्डारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भाँति लोक-मनोहर भी नहीं हो सकीं। इनकी रक्षा का भार सम्प्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं के हाथों रहा। उन्होंने इन रचनाओं को प्रमाणित रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया। जो कुछ भी साहित्य बचा है, वह केवल इस बात की सूचना दे सकता है कि वह किस श्रेणी का रहा होगा और उसकी प्राणवस्तु कैसी थी। परवर्ती साहित्य में इन योगियों का उल्लेख दो प्रकार से आया है—(१) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकार के रूप में और (२) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खण्डों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में। दोनों ही वातें इनके प्रभाव की सूचना देती हैं। कभी-कभी दाढ़ू-पन्थी या निरंजनी जैसे सम्प्रदायों के सन्त-वचन-संग्रहों में इन नाथ सिद्धों की कुछ रचनाएँ संगृहीत मिल जाती हैं। हाल ही में मैंने इस प्रकार की बानियों का एक संग्रह सम्पादित किया है, जो नागरी-प्रचारणी सभा की विड़ला-ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है।

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में कलचुरिवंश के राजा लोग भी परम शैव थे। युवराज देव के राज्य में पाशुपतों के कालामुख-सम्प्रदाय का वड़ा मान था। युवराज देव ने रीवाँ के पास स्थित गोरगी (गोलगिरि, गोलकी) नामक स्थान पर एक विशाल शैवमठ की स्थापना कराई थी जिसकी शाखा सुदूर दक्षिण तक फैली हुई थी। मद्रासप्रान्त के मलकापुरम् ग्राम के एक शिलालेख से पता चलता है कि गंगा और नर्मदा के अन्तराल के डाहल देश (वर्तमान बुन्देलखण्ड) है। उसमें सद्भावशम्भु नाम के शैव साधु थे, जिन्हें कलचुरि राजा युवराजदेव ने तीन लाख गाँवों का एक प्रदेश भिक्षा में दिया था। उसी में गोलकी या गोलगिरि मठ की स्थापना हुई थी। इस मठ के माध्यम से दक्षिण और उत्तर के शैवमठों में सम्बन्ध स्थापित हुआ था। कहते हैं, त्रिपुरी के पास जो चाँसठ योगिनियों का मन्दिर है, वह भी किसी समय इसी मठ की शाखा रहा होगा (द० : ना० प्र० पत्रिका, भाग ६, अंक ४ में रायवहारी राजालाल का लेख)। कलचुरियों का सबसे प्रतापी राजा कर्ण परम शैव था। उसने काशी में वारहमंजिला शिवमन्दिर बनवाया था, जिसका नाम कर्णमेह रखा था। उसने काशी को अपनी राजधानी भी बनाना चाहा था; परन्तु किसी कारणवश उसकी मनःकामना पूर्ण नहीं हुई और वह काशी छोड़ने को बाध्य हुआ। उसके साथ आये हुए ब्राह्मण अब भी काशी और सरयू पार में प्रतिष्ठित हैं। गाहड़वाल-राजाओं की सत्ता स्थापित होने के बाद इस मत को कोई क्षति नहीं पहुँची, सहायता ही मिली। सिद्धियों के प्रति लोगों का विश्वास दृढ़ ही हुआ। उत्तर और दक्षिण से शैव-साधना की लहरें आती रहीं और एक दूसरे को बल देती रहीं।

कर्ण के दरवार में (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध) अपश्रंश-कवियों का सम्मान था।

जैन भण्डारों में सुरक्षित पुस्तकों में भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के निकट की है; किन्तु प्राकृत-पैंगलम् की कई कविताएँ उदाहरण रूप में उद्घृत हैं जिनमें कर्ण की प्रशंसा है। ये कविताएँ अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ठ की हैं और हिन्दी के चारण कवियों की भाषा का पूर्वरूप हैं। किसी-किसी कविता में कर्ण के दरवारी कवि बब्वर का नाम भी आ गया है। यह कहना कठिन है कि राजस्तुतिपरक सभी कविताएँ बब्वर की ही हैं या नहीं; परं जिनमें बब्वर का नाम आया है, वे निश्चित रूप से बब्वर की कही जा सकती हैं। इन कविताओं में भाषा बहुत सुथरी है और कलचुरि कर्ण के गुर्जर, महाराष्ट्र, ओड़ि, मालवा आदि के जीतने का उल्लेख है—

हण उज्जर गुज्जर राम कुलं ।

दल दलिग्र चलिग्र मरहट्ठ वलं ॥

बल मोडिग्र मालव राम कुला ।

कुल उज्जल कलचुलि कहाण फुला ॥

[उज्जल गुर्जर-राजकुल को नष्ट कर दिया, मरहट्ठों की सेना के दलों को भगाकर कुचल दिया और मालवराज-कुल को मोड़ दिया। इस प्रकार राजा कर्ण उज्जल कलचुरि-कुल का कर्णफूल बन गया!] इसी प्रकार—

जुज्ज्ञ भट भूमि पड़, उट्ठि पुण लगिग्रा ।

सग्ग मण खग्ग हण कोइ र्णहि भगिग्रा ॥

बीस सर तिक्ख कर कराण गुण अप्पिया ।

पथ तह जोलि दह चाउ सह कप्पिया ॥

[भट जूझते हैं, भूमि पर गिरते हैं और फिर उठकर भिड़ जाते हैं। स्वर्ग की ओर मन लगा है। खड़ग की मार से कोई भाग नहीं रहा है। इसी समय कर्ण ने अपने धनुष पर बीस वाण चढ़ाये और पार्थ की भाँति चाव के साथ दस धनुष और उनपर चढ़े वाणों को काट दिया!]

बब्वर को वैराग्य वता कर कीर्ति का महत्व बतानेवाली यह रचना परवर्ती हिन्दी-साहित्य की कविताओं से भाषा और भाव दोनों में पूर्ण रूप से साम्य रखती है—

ए अत्थीरा देखु सरीरा घर जाया

वित्ता पित्ता सो अर मित्ता सबु माया ।

काहे लागो बब्वर बेलावसि मुज्जै

एकका कित्ती किज्जा हि जुर्ती जइ सुज्जै ॥

[यह अस्थिर है, देखु शरीर। घर, जाया, वित्त, पिता, सहोदर, मित्र सब माया हैं! काहे वास्ते 'बब्वर' तू चहराता है (भरमाता है) मुझे; एक ही उपाय है,—कीर्ति-अर्जन! यदि सूझे तो कर।]

वारहवीं शताब्दी में लगभग समूचे भारत में शैवमत का प्रावल्य था। उत्तर में उसका एक प्रधान और महत्वपूर्ण रूप नाथमत था, जो दक्षिण के शैवमत से बहुत सम्बद्ध नहीं जान पड़ता। जैनधर्म से प्रभावित होने के कारण, आंशिक रूप से बौद्ध साधना को आत्मसात् करने के कारण, स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप में

विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निर्गुणपन्थी, सहनशील और उदासीन बना रहा। उसका आक्रामक रूप केवल जाति-व्यवस्था के प्रति, मायाजाल में फँसे हुए दयनीय जीवों के प्रति और हिंसामूलक और दुर्नीतिमूलक आचरणों के प्रति जीता रहा। नहीं तो गोरक्षनाथ-जैसे अम्बद्ध साधक भी अपने शिष्यों को यही उपदेश दे गये हैं—

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं बाद न करनां ।

अङ्गसठि तीरथ समंद समानैं यूं जोगी को गुरुमषि जरनां ॥

और—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरं धरिबा पांव ।

गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भण्ठं गोरष रांव ॥

अहिंसा में इन लोगों का उतना ही दृढ़ विश्वास था जितना जैनों या वैष्णवों का। गोरक्षनाथ ने मांसभक्षण और नशा-सेवन दोनों का घोर विरोध किया था—

जोगी होइ पर निंदा झखै। मद मांस अरु भांगि जो भखै ।

इकोतर सैं पुरिषा नरकहिं जाई । सति-सति भाषंत श्री गोरख राई ॥

और—

अवधू मांस भषन्त दयाधरम का नास

मद पीवत वहां प्राण, नीरास

भांगि भषंत ग्यान ध्यानं षोवंत

जम दरवारी ने प्राणी रोवंत

इसी प्रकार, ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय संयम पर भी इन्होंने बहुत जोर दिया है—

यंद्री का लड़बड़ा जिम्मा का फूहड़ा

गोरख कहें ए परतषि चहड़ा ।

पूर्वी भारत में बौद्धधर्म के तन्त्र-मन्त्रवाले अन्तिम वज्रयानी रूप का प्रावल्य था। सेन राजाओं के समय उड़ीसा होते हुए दक्षिणी वैष्णवधर्म का प्रवेश बंगाल में हुआ। उत्तर में वैष्णवधर्म उतना ऐकान्तिक नहीं था जितना दक्षिण में। ऐकान्तिक भक्ति के साथ वज्रयानी भावनाओं के मिश्रण से वैष्णवधर्म ने उड़ीसा में एक नया रूप ग्रहण किया। शुरू-शुरू में सेन राजा शैव थे। विजयसेन स्वयं अपने को परम शैव मानते थे; परन्तु उन्होंने प्रद्युम्नेश्वर का मन्दिर बनवाया था जिसकी मूर्त्ति में शिव और विष्णु का मिश्रण था। उस मन्दिर के एक लेख में इस मिश्रमूर्त्ति का बड़ा सुन्दर कवित्वमय वर्णन दिया गया है।^१

१. लक्ष्मीबल्लभशीलजादयितयोरद्वैतलीलागृहं

प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाङ्गनमधिष्ठानं नमस्कुमंहे ।

यत्वालिङ्गनमञ्जकातरतया स्थित्वान्तरे कान्तयोः

देवोभ्यां कथमप्यभिन्नततुतां शिलयेऽन्तरायः कृतः ॥

चित्रकौमेभवर्भर्भो हृदयविनिहितस्थूलहारोगेन्द्रः

श्रीखण्डकोदभस्मा करनिहितमहानीलरत्नाक्षमालः ।

वेदस्तेनास्य तेने गरुडमणिलतागोनसः कान्तमुक्ता

नेपथ्यन्यस्तमाला समुचितरच्चने कल्पकापालिकस्य ॥

विद्यापति के पदों में शिव और विष्णु के इसी मिथ्ररूप का वर्णन इस प्रकार है—

घन हरि घन हरि घन तव कला ।

खन पीत वसन खनहिं वधुखला ॥ इत्यादि ।

जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे, अतएव वैष्णव भक्त नहीं हो सकते; वे उस काल की इस मनःस्थिति को नहीं जानते। समूचा उत्तर भारत प्रधान रूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखण्ड भक्ति वनी हुई थी; परन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय। गाहड़वाल-नरेश अपने को माहेश्वर भी कहते थे और अपनी प्रणस्तियों में लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे। इसी सहनशील, उदार और अनाक्रामक धार्मिक मनोभाव की पृष्ठभूमि में हिन्दी का आदिकालीन साहित्य लिखा गया। भक्ति के बीज के अंकुरित और पल्लवित होने की यह उपगुक्त भूमि थी।

बहुत-सी परवर्ती स्मृतियाँ और उपपुराणजातीय पुस्तकें, बहुत-सी वैष्णव और शैव संहिताएँ इसी काल में लिखी गई जिनमें भावी भक्ति-साहित्य के प्रेरणा-बीज वर्तमान थे।

इस काल में जो दो श्रेणी की अपश्रंश और देशमिथ्रित रचनाएँ मिलती हैं, वे इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही हैं। इस काल में केन्द्रीय शासन टूट चुका था। पश्चिम की ओर से विजातीय संस्कृति के पोषक दुर्दान्त शत्रुओं का निरन्तर आक्रमण हो रहा था। भारतवर्ष के बीर राजपूत उनसे जमकर लोहा भी लेते थे और केन्द्रीय सत्ता के हथियाने की फिक्र में भी रहते थे। उन्हें युद्ध करना पड़ता था। वे अपनी स्तुति भी सुनना चाहते थे। युद्ध उन दिनों के राजपूत राजाओं के लिये आवश्यक कर्तव्य हो गया था। उन्हें अन्य राजकीय गुणों के विकास करने और लोकनिष्ठ करने का अवसर नहीं मिलता था। लड़नेवालों की संख्या कम थी; क्योंकि लड़ाई भी जातिविशेष का पेशा मान ली गई थी। देशरक्षा के लिये या धर्मरक्षा के लिये समूची जनता के सब्रद हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों में तथा सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़नेवाली जाति के लिये सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था। क्योंकि उत्तर, पूरव, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था—हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देनेवाली घटनायोजना का आविष्कार। उस काल के साहित्य में ऐसी छोटी-छोटी वातों पर लड़ाई हो जाने की बात मिलती है कि आज का सहृदय विस्मय से देखता रह जाता है। पृथ्वीराज के चाचा कन्ह ने किसी को मूँछों पर हाथ फेरते देखा, सिर उतार लिया। वे विचारे शरणागत थे। पछतावा उन्हें भी हुआ। प्रायशिच्छ रूप में उन्होंने आँखों पर पट्टी बाँध ली। यह वीरता का आदर्श था! इन कवियों ने राजस्तुति के न.म पर असम्भव घटनाओं और अपतथ्यों की योजना की। विवाह भी इस वीरता का एक वहाना बनाया गया। आजकल के ऐतिहासिक विद्वान् वेकार ही इन घटनाओं और अपतथ्यों से इतिहास खोज

निकालने का प्रयास करते हैं। इन काव्यों में व्यापक रूढ़ियों के आधार पर अपने राजा को या काव्यनायक को उत्साह का आश्रय और रति का आलम्बन बनाना चाहा है। इनमें इतिहास को समझने का कम और तत्काल प्रचलित काव्यरूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।

दूसरी ओर हिमाचल के पाददेश में कामरूप से लेकर हिंगलाज तक एक प्रकार की यक्षपूजा दीर्घकाल से प्रचलित थी, जो वौद्धधर्म के पिछले दिनों में वौद्धधर्म को प्रभावित करने में समर्थ हुई और वज्रयान नाम से अभिहित हुई। 'उपासकदशासूत्र' में मणिभद्र-चैत्य का उल्लेख है और वज्रयान नाम से अभिहित हुई। यह यक्षों और संयुक्तनिकाय में मणिभद्र यक्ष की चर्चा है। आगे चलकर यही मणिभद्र बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिने जाने लगे। फिर, आगे चलकर वौद्धधर्म में वज्रपाणि यक्ष तो वोधिसत्त्व का पद पा गये और 'कृष्णयमारितन्त्र' में इन्हें सर्वतथागताधिपति कहा गया है। यक्षों और गुह्यकों का भोगपरक तान्त्रिक धर्म क्रमशः शक्तिशाली होता गया और आगे चलकर 'तथागतगुह्यक'-जैसे तान्त्रिक शास्त्रों की रचना हुई। यह यक्षकुल, जिसमें अप्सराएँ, कामदेव और गन्धर्वगण हैं, वज्रपाणि वोधिसत्त्व का उत्पत्तिस्थल बताया गया है। इन लोगों का प्राधान्य हिमालय के पाददेश में दीर्घकाल से था। वौद्धधर्म की उँगली पकड़कर यह साधना मैदान में आई और सातवीं-आठवीं शताब्दी में काफी शक्तिशाली हुई। नवीं-दसवीं शताब्दी में इस साधना को प्रतिकूल सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। ऐतिहासिक कारणों के दबाव से जातिशुद्धि गृहस्थ की प्रधान चिन्ता की बात बन गई थी, परिणामस्वरूप मैदान में जातियों और उपजातियों का बोलबाला बढ़ता गया। विदेशी और विजातीय संस्कृति के दबाव से हिन्दुओं में एक तरफ जिस प्रकार जातिशुद्धि पर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा था, उसी प्रकार आपस के धार्मिक खिचाव को कम किया जाने लगा और उदार आचार-प्रधान स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार जाति-पाँति की ओर से कठोर, आचारपालन में दृढ़ और पूजा-उपासना में सहिष्णु तथा उदार हिन्दूधर्म का आविर्भाव हुआ। फिर नवागत और नवोत्कर्ष-प्राप्त जातियाँ अपने उच्च कुल को, साधारण जनता से अपनी विशिष्टता को और अत्यन्त पुरानी परम्परा के कल्पित दावों को जितने ही दृढ़कण्ठ से उद्घोषित करती गईं, उतनी ही कठोरता से साधारण जनता ने अपनी पुरानी परम्परा की स्मृति बचा रखने का प्रयास किया। आर्थिक और राजनीतिक कारणों से उन्हें सर्वत सफलता नहीं मिली; पर प्रवृत्ति अधिकाधिक वंशशुद्धि की रक्षा और आचारपालन की कठोरता की ओर बढ़ती गई। इस प्रकार के समाज में यौनभावापन साधना के लिये अनुकूल बातावरण नहीं मिल सकता। इसका फल यह हुआ कि इस प्रकार के सन्तों की अभिव्यक्ति संकोचपूर्ण, द्विविधाग्रस्त, रहस्यनिर्मापिक और उलटबाँसी-जैसी रचनाओं के माध्यम से होने लगी। नाथपन्थियों ने ब्रह्मचर्य को तो कसके अपनाया; परन्तु उक्त साधनाओं से उनका पुराना सम्बन्ध होने के कारण वे भी इसका इस प्रकार की अभिव्यक्ति करने लगे कि शिव-शक्ति का खेल पिण्ड में ही चल रहा है। यह बात विरासत में निर्गुणिया सन्तों ने भी पाई; परन्तु जब धर्ममत और सामाजिक व्यवस्था परस्पर विरोधी नहीं रही तो भक्तिकाल में इस प्रकार की रहस्यात्मकता की आवश्यकता नहीं रह गई। पूर्वी प्रदेशों में जहाँ भक्तिमार्ग सहजिया भावापन्न था, वहाँ कुछ

रहस्यात्मकता बाद में भी वनी रही; पर धर्मिक मत के सामाजिक नियमों के अनुकूल होते ही मध्यदेश से वह रहस्यात्मकता लुप्त हो गई।

दुर्भाग्यवश जिन सम्प्रदायों ने इस रहस्यात्मक साहित्य की सृष्टि की थी, उनकी परम्परा उनके सम्प्रदाय के रूप में नहीं जी सकी और उनके साहित्य का लोप हो गया। पूर्वी प्रदेशों में थोड़ा बहुत वह इसलिए रक्षित रह गया कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक वहाँ उक्त धर्म-मत संगठित सम्प्रदाय के रूप में जीता रहा। नेपाल आदि प्रदेशों से ही कुछ अल्पमात्रा में इन रहस्यात्मक गीतों का उद्धार किया जा सका है। उत्तर भारत का धर्ममत नवीन सम्पर्क और नवीन प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वरावर अपनी पुरानी परम्परा पर—कुछ अधिक दृढ़ता के साथ डटा रहा। हिमालय के पाददेश की साधना उसे अभिभूत नहीं कर सकी। यहाँ संस्कृत की ओर ब्राह्मणधर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद तक वनी रही। इस प्रकार न तो हमें इस प्रदेश के ऐसे साहित्य का ही पता लगता है, जो राजरक्षित हों और न ऐसे ही साहित्य का, जो संघटित सम्प्रदाय द्वारा सुरक्षित हों। केवल जनता की जिह्वा पर जो कुछ चरा रहा, वही अनेक परिवर्तनों के बाद घट-वढ़कर क्वचित्-कदाचित् मिल जाता है।

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के अरक्षित रह जाने की यही कहानी है। जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित हुई कि उसके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित मालूम पड़ता है। कुछ तो ठीक से सुरक्षित हुई हैं, उनके आधार पर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं। परन्तु, इन पुस्तकों से काव्यरूपों का अध्ययन अधिक विश्वास के साथ किया जा सकता है।

इस काल में अपभ्रंश-काव्यों में उन सभी प्रवृत्तियों का आरम्भ हो गया दिखता है जो आगे अनेकाली भाषा के प्रधान लक्षण माने जाते हैं। हमने पहले ही बताया है कि ठीक मध्यदेश में बना कोई अपभ्रंश-काव्य नहीं मिलता। अधिकांश पुस्तकों किनारे पर स्थित प्रान्तों से ही प्राप्त हुई हैं। फिर भी ये पुस्तकें बहुत सहायक हैं। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। एक तो शिष्ट जन की अपभ्रंश-भाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने लिखा था और जो प्रधान रूप से जैन पण्डितों के हाथों संवरती रही। यह बहुत-कुछ प्राकृत और संस्कृत की भाँति ही शिष्टभाषा बन गई थी। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश-भाषा, जो सम्भवतः चलती जबान थी, भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह अधिक अग्रसर हुई भाषा है। सन्देशरासक इसी प्रकार की अपभ्रंश में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में—अर्थात् लगभग उसी समय जब पृथ्वीराजरासो लिखा जा रहा था—रचित हुआ था। इसकी भाषा बोलचाल के अधिक नजदीक थी। यद्यपि इसके कवि अद्वैताण या 'अद्वृल रहमान' प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा के अच्छे जानकार थे और बीच-बीच में उन्होंने जो प्राकृत-गाथाएं लिखी हैं, वे उनकी प्राकृत-पटुता की सूचना देती हैं। फिर भी, उन्होंने अपनी रचना बोलचाल के अधिक नजदीक रखने की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि जो लोग पण्डित हैं, वे तो मेरे इस कुकाव्य पर कान देंगे ही नहीं और जो मूर्ख हैं—अरसिक हैं—उनका प्रवेश मूर्खता के कारण इस ग्रन्थ में हो ही

नहीं सकेगा, इसलिए जो न पण्डित हैं, न मूर्ख हैं; वल्कि मध्यम श्रेणी के हैं, उन्हों के सामने सदा हमारी कविता पढ़ी जानी चाहिए—

‘**णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि ।**

जिण मक्ख ण पंडिय मज्जयार

तिह पुरउ पठिब्बउ सब्बवार ॥

सो, यह काव्य बहुत पढ़े-लिखे लोगों के लिए न होकर ऐसे रसिकों के लिए है जो मूर्ख तो नहीं हैं; पर बहुत अधिक अध्ययन भी नहीं कर सके हैं। रासो कुछ इसी ढंग की भाषा में लिखा गया होगा। यद्यपि कवि ने उस ग्रन्थ में भी थोड़ी नम्रता दिखाई है; पर वह प्रथापालन-मान्व के लिए, नहीं तो रासोकार को अपने भाषाज्ञान पर गर्व है। उसकी भाषा में थोड़ी प्राचीनता की छाँक दी गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सौभाग्यवश रासो के चार छन्द अपश्रंश रूप में प्राप्त हो गये हैं, जिनसे मूल रासो की भाषा का कुछ अन्दाजा लग जाता है। तत्कालीन साहित्यिक भाषा के जो भी उदाहरण मिल जाते हैं, उन्हें देखते हुए अनुमान किया जा सकता है कि पुरातनप्रवचन-संग्रह में सुरक्षित छप्पयों की भाषा के आसपास ही मूल रासो की भाषा रही होगी।

पुरानी हिन्दी का जो भी रूप उपलब्ध होता है, वह पद्यबद्ध है। पद्य के लिए इस भाषा में कवियों को कुछ रियायती अधिकार प्राप्त हुए थे। शुरू-शुरू में यह अधिकार ठीक मान्व में प्रयुक्त हुए थे, बाद में कई कवियों ने इस अधिकार दुरुपयोग किया। मूल रासो की भाषा में इस अधिकार का उपयोग तो था; पर दुरुपयोग नहीं था। पद्य में मान्व ठीक रखने के लिए कवियों ने आवश्यकतानुसार चार मुख्य पद्धतियों से काम लिया है (५० भा०, पै० १६ और पै० १७)। सन्देशरासक में इस प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। अन्य अपश्रंश-ग्रन्थों में भी इसकी भरमार है। ये पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं—

१. स्वार्थक प्रत्यय अ, इ, अल, इल, उल आदि के योग से—

अलंकृत का अपश्रंश रूप ‘अलंकिय’ है; पर छन्दोनुरोध से इसमें स्वार्थक ‘अ’ ('य') प्रत्यय जोड़कर ‘अलंकियउ’ रूप बना लिया जाता है, इसी प्रकार ‘पंकित’ ‘पंकिय’ होगा, उसे ‘पंकियउ’ बना लिया जा सकता है; मुक्त ‘मुक्क’ होगा, उसे ‘मुक्कओ’ बना लिया जा सकता है। स्थूलाक्षर पदों पर ध्यान दीजिये—

मयणवट्टु मिअणाहिण कस्स व पंकियउ

अन्नह भालु तुरकिक तिहइ अलंकियउ (सं० रा० ४८)

इक्कु वाणु पुहमीसजु पइं कइमासह मुक्कओं (पु० प्र० में चन्द का छन्द)

इसी प्रकार ‘गयउ’, ‘चलियउ’ आदि प्रयोग हैं जो परवर्ती व्रजभाषा कविता में खूब मिलते हैं। यह विशेषण और संज्ञापदों में मुक्त होता है—

सो जग जणमष्ट सो गुणमन्तउ

जे कर पर उवआर हसन्तउ (प्रा० सू०, पृ० १६०)

‘इल्ल’, ‘उल्ल’, ‘इ’ आदि स्वार्थक प्रत्यय अपश्रंश में बहुत पहले आ गये थे, कभी-कभी एक, दो और तीन प्रत्ययों का योग भी (वलुलड़ा—हेम०) मिलता है और यह बात

परवर्ती हिन्दी रचनाओं में भी पाई जाती है—‘मुखड़ा’, ‘जियरा’, ‘हियरा’, ‘गहेलड़ी’ (रहु रहु मुगुध गहेलड़ी—कवीर) आदि में ऐसे ही स्वार्थक प्रत्यय हैं, जो अधिक प्रयोग के कारण मूल शब्दों से थोड़ा विशिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। शुरू-शुरू में अपभ्रंश में इनका अधिक प्रयोग पद्यगत रियायत प्राप्त करने के उद्देश्य से हुआ होगा, फिर धीरे-धीरे इन शब्दों ने काव्य के सुकुमार अर्थों को वहन करनेवाले कुछ विशिष्ट अर्थ धारण किये होंगे। हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत इस दोहे में ‘उल्ल’ और ‘इ’ दो स्वार्थक प्रत्यय बल शब्द के साथ युक्त होकर कोई विशिष्ट अर्थ नहीं वताते—

सामि सरोसु सलज्ज पिउ, सीमा संविहि वासु ।

पेक्खिवि वाहुवलुल्लड़ा, धण मेल्लइ निसासु ॥

[भालिक सरोप है, अदना-सी बातों पर लड़ पड़ने को प्रस्तुत है, मेरा प्रिय सलज्ज है और निवास देश की सीमा-सन्धि पर है (जहाँ भी तलवार बज जा सकती है)। वह सब सोचकर और अपने पति के वाहुवल को देखकर वह धन्या (दुलहिन) (चिन्तावश) दीर्घ निःश्वास छोड़ा करती है।]

परन्तु, कवीर के दोहे में इस ‘ड़ा’ के घिसे रूप ‘रा’ ने कुछ अधिक सुकुमारता ला दी है—

‘जियरा योंही लेहुगे निरह तपाइ तपाइ ।’

२. लघुस्वर को गुरु बनाकर छन्दःपूर्ति की योजना—

(क) दो-न्तीन प्रकार से यह कार्य किया जाता था। प्रथम हस्त स्वर को दीर्घ करके। हेमचन्द्र ने तो यह साधारण नियम ही बना दिया था कि अपभ्रंश में हस्त और दीर्घ का व्यत्यय हो सकता है। पर यह नियम पदान्त में ही होता है। ‘भला हुआ जो मारिखा’ में दोनों ही स्थानों पर पदान्त दीर्घ है। यह बात जायसी, तुलसी और कवीर में भी मिलती है। इन कवियों ने पदान्त हस्त को तो कम, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर छन्द के अन्त में आनेवाले पद के अन्तिम स्वर को दीर्घ बनाकर काम चला लिया है। खोजने पर साधारण पदान्त दीर्घ के उदाहरण भी मिल जाएंगे, पर प्रवृत्ति पादान्त में आये पद के अन्तिम हस्त स्वर को दीर्घ करने की ही रही है। इसे ‘पादान्त’ दीर्घ की प्रथा कहा जा सकता है। ‘हसव ठठाइ फुलाउव गालू’ (तुलसी) में ‘गालू’ का अन्तिम उकार इसी नियम से दीर्घ हुआ है। इसी प्रकार ‘सहि नहिं सकहु हिये पर हारू’ और ‘ससिमुख जवहि कहै किछु बात’ (जायसी) में पादान्त दीर्घ इसी प्रथा के चिह्न हैं। किन्तु अपभ्रंश में पद्य के मध्य में भी दीर्घ करने के उदाहरण मिल जाते हैं (ह० भा०, प० १६)। ‘प्रसाधन’ का नियमित अपभ्रंश रूप ‘पसाहन’ होना चाहिए; पर सन्देशरासक में इसे ‘पासाहण’ किया गया है—‘रहसच्छलि-कीरइ पासाहण’ (पद १७९)। प्राकृत-पिंगलसूत्र की कविताओं में छन्द के चरण के अन्तवाले (पदान्त) हस्त को दीर्घ करने की प्रथा बहुत अधिक रुढ़ हो गई थी। जैसे, ‘जहाँ भूत बेताल णचन्त गायन्त खाए कवन्धा’ (पृ० १९४)। इसमें ‘कवन्धा’ में पदान्त दीर्घ है। पादमध्य में आनेवाले पदान्त हस्त को दीर्घ करने के उदाहरण भी मिलते हैं। इसी पद्य में आगे इस प्रकार है—

कआ दुट्ट फुट्टे इ मन्था कवन्धा णचन्ता सन्ता ।

तहाँ वीर हम्मीर संगाम मज्जो तुलन्ता जुलन्ता ॥

आवश्यकता पड़ने पर शब्द के मध्य (पदमध्य) स्वर को भी दीर्घ कर लेने की प्रथा दिख जाती है, जैसे निम्नलिखित पदों में पूरिस में 'पू' और 'गुरु' में 'रू'—

काहि पूरिस गेह मण्डणि एह सुन्दरि पेक्खआ। (पृ० १६५)

गुरु सद् किज्जे अ एका तआरेण। (पृ० १५८)

सम्भवतः इस प्रथा का पुराना अवशेष संस्कृत के 'पदगावती' जैसे शब्दों में खोजा जा सकता है जिसके तौल पर 'कनकावती', 'मुग्धावती'-जैसे शब्द हिन्दी में चल पड़े। 'ललित-विस्तर' और अन्य महायानी ग्रन्थों की संस्कृत-गाथा में इस नियम के अनेक चिह्न मिल सकते हैं।

पदान्त दीर्घ पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि मूलतः यह बात स्वार्थक 'अ' ('क' का धिसा रूप) प्रत्यय के साथ वने हुए रूप का संक्षेपित रूप है। 'तंडुल' 'अ'—'तंडुला'। आँल्सडोर्फ का कहना है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक प्रवृत्ति हस्तान्त की है; दीर्घ तो केवल स्वार्थक प्रत्ययों के साथ वने रूप का संक्षेपित रूप है। उदाहरणार्थ, 'मंजरी' अपभ्रंश में 'मंजरि' बन जाती है फिर स्वार्थक 'अ' प्रत्यय से युक्त होकर 'मंजरिअ' या 'मंजरिय' बनती है जो संक्षेपित होकर फिर 'मंजरी' बन जाती है। इसलिए अपभ्रंश के दीर्घान्त रूप वस्तुतः हस्तान्त ही हैं।

(ख) एक दूसरा कीशल है परवर्ती वर्ण को द्वित्व करके पूर्ववर्ती लघुस्वर को संयोगपरक बनाकर गुरु बना देना। प्राकृत में ही यह प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। जैसे,—'लज्जा गरुई' 'परब्बसो अप्पा' (रत्नावली) में 'परब्बसो' 'वरवशः' का प्राकृत रूप है। वकार के द्वित्व का कोई कारण नहीं है। केवल छन्दःसौकर्य के लिये ही यह किया गया है। 'सन्देशरासक' में, 'चिरगग्य' (चिरगतः), 'सवभय' (सभयः) जैसे प्रयोग बहुत हैं। प्राकृत-पिंगलसूत्रों के उदाहरण में 'हयगग्य' (हयगज), 'परब्बस' (परवश)-जैसे प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं और हेमचन्द्र का 'भमर' तो यहाँ अनायास 'भम्मर' बन जाता है, केवल छन्दोयोजना की आवश्यकतापूर्ति का अवसर मिलना चाहिए—

गज्जउ मेह कि अम्बर सम्मर।

फुल्लउ णीव कि बुल्लउ भम्मर॥

इसी प्रकार—

फुल्ला णीवा बोल्ले भम्मरु

दख्खा मारुओ बीअन्ताए (पृ० १६३)

'गर्वगत' का 'गव्वग्न' होना स्वाभाविक है; पर प्राकृत-पिंगलसूत्र के उदाहरण में 'गव्वगत' मिल जाता है—'रोसरत्त गव्वगत हक्क दिण भीषणा।' (पृ० १७१) इसी प्रकार 'पदातिक' से अपभ्रंश में 'पाइक' या 'पायक' बनता है। पुरातनप्रवन्ध-संग्रह के रासोवाले छप्पयों में से एक में इसे 'पायक' किया गया है और फलक को 'फारवक'—

'बीस लक्ख पायकक सफर फारवक घनुद्धर'। (पृ० ५३)

इन दिनों जो रासो मिलता है, उसमें तो इस नियम का अत्यधिक प्रयोग है जो दुरुपयोग की सीमा को भी पार कर गया है। उदाहरणार्थ—'फरविक', 'झड़प्पि', 'चल्लि', 'लिक्खि' आदि में इसी परम्परा को दुरुपयोग की सीमा तक घसीटा गया है। मूल रासो में यह

प्रवृत्ति बहुत स्वस्थ और संयत रूप में रही होगी। सम्भवतः, सन्देशरासक की मात्रा के आसपास ही।

(ग) रासो में अनुस्वार देकर छन्दोनिर्वाह की योजना बहुत अधिक मात्रा में है। 'रजत भूषणं तनं। अलक्ष छुट्टयं मनं'। (पृ० २११२)-जैसे छन्दों में अकारण अनुस्वार ठूंसे गये हैं। एक कारण तो अनुस्वार देने का यह हो सकता है कि भाषा में संस्कृत की गमक आ जाये। परन्तु, यह प्रवृत्ति सिफँ इतने ही उद्देश्य से होती तो इतना विशाल रूप न धारण करती। वस्तुतः, अपभ्रंश-काल में दो प्रकार से अनुस्वार जोड़ने के उदाहरण मिल जाते हैं—(१) मूल संस्कृत में उस पद में अनुस्वार रहा हो और छन्द की पादपूर्ति के लिए उसकी आवश्यकता अनुभव की गई हो। परवर्ती हिन्दी में 'परन्त्रहा'-जैसे शब्दों में यही प्रवृत्ति है। प्राकृत-पिंगलसूत्र के उदाहरणों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है—ठवि सल्ल पहिल्लौ चमर हिहिल्लौ सल्लजुञ्चं पुणु बहू ठिआ। (पृ० २१५) में 'सल्लजुञ्चं' का अनुस्वार 'सत्ययुगं' में आये हुए संस्कृत-अनुस्वार का अवशेष है। (२) छन्द में एकाध मात्रा की कमी रह गई हो और उसके लिए द्वित्वाला विधान बहुत अच्छा नहीं दिख रहा हो जैसे 'णायं' (समान)—'णायं तुम्वरी सज्जित' (सं० रा० ५३); परन्तु यह बात अपभ्रंश-कवियों में बहुत अधिक प्रिय नहीं थी। सन्देशरासक में 'अमियं झरणो' (३३)-जैसे प्रयोगों को बहुत दूर तक नहीं घसीटा जा सकता। ये संस्कृत के ख-प्रत्यय-परक शब्दों (शुभंकर, प्रियंकर) के अनुकरण पर गढ़े गये जान पड़ते हैं। पु० प्र० के रासो-छप्पयों में एक जगह 'खयंकर' [अगहु म गहि दाहिमओ (देव) रिपुराय खयंकर] प्रयोग है जो इसी प्रवृत्ति का द्योतक है; परन्तु 'भितरि' (उर भितरि खदहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ) का अनुस्वार कुछ उसी प्रकार की भरती का मालूम होता है जिस प्रकार की भरती परवर्ती रासो में है। प्राकृत-पिंगलसूत्रों के उदाहरणों में भरती के अनुस्वार नहीं मिलते और इसीलिए यह मान लिया जा सकता है कि मूल रासो के छन्दों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा में नहीं होगी। कुछ थोड़ी रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। थोड़ी मात्रा में यह प्रवृत्ति बाद में भी बनी रही। 'ढोला मारू रा दोहा' (राति जु बादल सघणधण बीज चमंकउ होइ) में थोड़ी बहुत यह प्रवृत्ति मिल जाती है।

३. गुरु स्वर को लघु बनाकर छन्द का निर्वाह—

अपभ्रंश की रचनाओं में इसका बहुत (ह० भा० ७१७) प्रयोग मिलता है। साधारणतः, तीन कौशलों से कवि इस प्रकार का प्रयास करता है—

(क) दीर्घ को हस्त करके—ज्वाला का 'झाला' या 'जाला' होना चाहिए। अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार अन्तिम स्वर हस्त हो जाय तो 'जाल' या 'झाल' बनेगा; किन्तु अपभ्रंश-कवि आवश्यकता पड़ने पर इसे 'झल' या 'जल' कर देगा। हेमचन्द्र के उदाहृत दोहों में 'ज्वाला' का 'जाल' रूप मिलता है। ('सासानल जाल झलकियउ') और 'ढोला मारू रा दोहा' में ज्वाला के अर्थ में 'झालि' शब्द का प्रयोग है—

झाविन पइवी झालि सुंदर काइं न सलसलइ (दो० ६०३)

आवश्यकता पड़ने पर शब्द के मध्य (पदमध्य) स्वर को भी दीर्घ कर लेने की प्रथा दिख जाती है, जैसे निम्नलिखित पदों में पूरिस में 'पू' और 'गुरु' में 'रु'—

काहि पूरिस गेह मण्डणि एह सुन्दरि पेक्खआ। (पृ० १६५)

गुरु सह किज्जे अ एकका तग्रारेण। (पृ० १५८)

सम्भवतः इस प्रथा का पुराना अवशेष संस्कृत के 'पद्मावती' जैसे शब्दों में खोजा जा सकता है जिसके तौल पर 'कनकावती', 'मुग्धावती'-जैसे शब्द हिन्दी में चल पड़े। 'ललित-विस्तर' और अन्य महायानी ग्रन्थों की संस्कृत-गाथा में इस नियम के अनेक चिह्न मिल सकते हैं।

पदान्त दीर्घ पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि मूलतः यह बात स्वार्थक 'अ' ('क' का घिसा रूप) प्रत्यय के साथ बने हुए रूप का संक्षेपित रूप है। 'तंडुल' 'अ'—'तंडुला'। ऑल्सडोफ का कहना है कि अपभ्रंश की स्वाभाविक प्रवृत्ति हस्तान्त की है; दीर्घ तो केवल स्वार्थक प्रत्ययों के साथ बने रूप का संक्षेपित रूप है। उदाहरणार्थ, 'मंजरी' अपभ्रंश में 'मंजरि' बन जाती है फिर स्वार्थक 'अ' प्रत्यय से युक्त होकर 'मंजरिअ' या 'मंजरिय' बनती है जो संक्षेपित होकर फिर 'मंजरी' बन जाती है। इसलिए अपभ्रंश के दीर्घान्त रूप वस्तुतः हस्तान्त ही हैं।

(ख) एक दूसरा कीशल है परवर्ती वर्ण को द्वित्व करके पूर्ववर्ती लघुस्वर को संयोगपरक बनाकर गुरु बना देना। प्राकृत में ही यह प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। जैसे,—'लज्जा गरुई' 'परब्बसो अप्पा' (रत्नावली) में 'परब्बसो' 'वरवशः' का प्राकृत रूप है। वकार के द्वित्व का कोई कारण नहीं है। केवल छन्दःसौकर्य के लिये ही यह किया गया है। 'सन्देशरासक' में, 'चिरगग्य' (चिरगतः), 'सञ्चय' (सञ्चयः) जैसे प्रयोग बहुत हैं। प्राकृत-पिंगलसूत्रों के उदाहरण में 'हयगग्य' (हयगज), 'परब्बस' (परवश)-जैसे प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं और हेमचन्द्र का 'भमर' तो यहाँ अनायास 'भम्मर' बन जाता है, केवल छन्दोयोजना की आवश्यकतापूर्ति का अवसर मिलना चाहिए—

गज्जउ मेह कि अम्बर सम्मर।

फुल्लउ णीव कि बुल्लउ भम्मर॥

इसी प्रकार—

फुल्ला णीवा बोल्ले भम्मरु

दक्खा मारुग्र बीअन्ताए (पृ० १६३)

'गर्वगत' का 'गब्बगअ' होना स्वाभाविक है; पर प्राकृत-पिंगलसूत्र के उदाहरण में 'गब्बगत' मिल जाता है—'रोसरत्त गब्बगत्त हक्क दिण भीषणा।' (पृ० १७१) इसी प्रकार 'पदातिक' से अपभ्रंश में 'पाइक' या 'पायक' बनता है। पुरातनप्रवन्ध-संग्रह के रासोबाले छप्पयों में से एक में इसे 'पायक्क' किया गया है और फलक को 'फारक्क'—

'बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धनुद्धर'। (पृ० ५३)

इन दिनों जो रासो मिलता है, उसमें तो इस नियम का अत्यधिक प्रयोग है जो दुरुपयोग की सीमा को भी पार कर गया है। उदाहरणार्थ—'फरक्क', 'झड़प्पि', 'चल्लि', 'लिक्खि' आदि में इसी परम्परा को दुरुपयोग की सीमा तक घसीटा गया है। मूल रासो में यह

प्रवृत्ति बहुत स्वस्थ और संयत रूप में रही होगी। सम्मवतः, सन्देशरासक की मात्रा के आसपास ही।

(ग) रासो में अनुस्वार देकर छन्दोनिर्वाह की योजना बहुत अधिक मात्रा में है। 'रजं भूषणं तनं। अलक्ष छुट्टयं मनं'। (पृ० २११२)-जैसे छन्दों में अकारण अनुस्वार ठौंसे गये हैं। एक कारण तो अनुस्वार देने का यह हो सकता है कि भाषा में संस्कृत की गमक आ जाये। परन्तु, यह प्रवृत्ति सिर्फ इतने ही उद्देश्य से होती तो इतना विशाल रूप न धारण करती। वस्तुतः, अपभ्रंश-काल में दो प्रकार से अनुस्वार जोड़ने के उदाहरण मिल जाते हैं—(१) मूल संस्कृत में उस पद में अनुस्वार रहा हो और छन्द की पादपूर्ति के लिए उसकी आवश्यकता अनुभव की गई हो। परवर्ती हिन्दी में 'परंब्रह्म'-जैसे शब्दों में यही प्रवृत्ति है। प्राकृत-पिंगलसूत्र के उदाहरणों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है—ठिक सल्ल पहिलौ चमर हिहिलौ सल्लजुअं पुणु बहू ठिआ। (पृ० २१५) में 'सल्लजुअं' का अनुस्वार 'सत्ययुगं' में आये हुए संस्कृत-अनुस्वार का अवशेष है। (२) छन्द में एकाध मात्रा की कमी रह गई हो और उसके लिए द्वित्ववाला विधान बहुत अच्छा नहीं दिख रहा हो जैसे 'णायं' (समान)—'णायं तुम्बरी सज्जित' (सं० रा० ५३); परन्तु यह बात अपभ्रंश-कवियों में बहुत अधिक प्रिय नहीं थी। सन्देशरासक में 'अमियं झरणो' (३३)-जैसे प्रयोगों को बहुत दूर तक नहीं घसीटा जा सकता। ये संस्कृत के ख-प्रत्यय-परक शब्दों (शुभंकर, प्रियंकर) के अनुकरण पर गढ़े गये जान पड़ते हैं। पु० प्र० के रासो-छप्पयों में एक जगह 'खयंकरु' [अगहु म गहि दाहिमओ (देव) रिपुराय खयंकरु] प्रयोग है जो इसी प्रवृत्ति का घोतक है; परन्तु 'भितरि' (उर भितरि खडहृडिउ धीर कञ्चितरि चुक्कउ) का अनुस्वार कुछ उसी प्रकार की भरती का मालूम होता है जिस प्रकार की भरती परवर्ती रासो में है। प्राकृत-पिंगलसूत्रों के उदाहरणों में भरती के अनुस्वार नहीं मिलते और इसीलिए यह मान लिया जा सकता है कि मूल रासो के छन्दों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा में नहीं होगी। कुछ थोड़ी रही होगी, इसमें सन्देह नहीं। थोड़ी मात्रा में यह प्रवृत्ति बाद में भी बनी रही। 'ढोला मारु रा दोहा' (राति जु बादल सघणघण बीज चमंकउ होइ) में थोड़ी बहुत यह प्रवृत्ति मिल जाती है।

३. गुरु स्वर को लघु बनाकर छन्द का निर्वाह—

अपभ्रंश की रचनाओं में इसका बहुत (ह० भा० ७१७) प्रयोग मिलता है। साधारणतः, तीन कौशलों से कवि इस प्रकार का प्रयास करता है—

(क) दीर्घ को ह्रस्व करके—ज्वाला का 'झाला' या 'जाला' होना चाहिए। अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार अन्तिम स्वर ह्रस्व हो जाय तो 'जाल' या 'झाल' बनेगा; किन्तु अपभ्रंश-कवि आवश्यकता पड़ने पर इसे 'झल' या 'जल' कर देगा। हेमचन्द्र के उदाहृत दोहों में 'ज्वाला' का 'जाल' रूप मिलता है। ('सासानल जाल झलकिक्यउ') और 'ढोला मारु रा दोहा' में ज्वाला के अर्थ में 'झालि' शब्द का प्रयोग है—

झाविन पइवी झालि सुंदर काइं न सलसलइ (दो० ६०३)

लेकिन यही शब्द हस्त होकर सन्देशरासक में 'शल' ('उल्हवइ ण केणइ विरहज्जल', १३७) बना है। इसी प्रकार, 'नारायणः' अपभ्रंश में 'नारायणु' या 'णारायणु' होगा। परन्तु, प्राकृत-पिगलसूत्र के उदाहरण में उसे 'णरायणु' किया गया है—

कुल खत्तिअ कम्पे, दहमुहु कट्ठे कंस ग्र केसि-विणाशकरा
करुणे पश्चले मेच्छह विअले सो देउ 'णरायणु' तुम्ह बला (पृ० २१६)

[क्षत्रिय-कुल को कॅपाया, दशमुख को काटा, कंस और केशी का नाश किया, करुणा को प्रकट किया, म्लेच्छों को विकल किया, वह नारायण तुम्हें बल दे ।]

इस बात को भाषाविज्ञान के साधारण नियमों से समझाया जा सकता है। 'नारायण' में 'रा' के आकार पर स्वराधात पड़ने से 'ना' का आकार हस्त हो जायगा। परन्तु, यदि यह बात होती तो और कहीं भी अपभ्रंश में 'नारायण' रूप न मिलता। इसलिए, यहाँ मैंने इसे उदाहरणरूप में उद्धृत किया है। सन्देशरासक में 'सीतल', 'सीयल' का 'सियलु' रूप मिलता है ('मरु-सियलुवाइ महि सीयलंतु') और पदान्त 'ओ' और 'ए' का हस्त कर देने की प्रथा तो बहुत पुरानी है। हेमचन्द्र के उद्धृत दोहों में ही यह बात बहुत अधिक मिल जायगी।

तहे मुद्धहे मुह पंकइ आवासित सिसिरु । (३५७)

निरुपम रसु पिएँ पिआवे जणु सेसहो दिण्णी मुद्द । (४०१) इत्यादि ।

कभी-कभी पदमध्य में भी आ जाता है। अवश्य ही, ऐसे स्थलों पर पदान्त की स्मृति खोजी जा सकती है। जैसे, 'भमरा एत्थुवि लिवडह केवि दियहडा विलंबु ।' के 'केवि' में 'के अपि' की स्मृति खोजी जा सकती है। पु० प्र० के रासो-छप्पयों में पदान्त 'ओकार' के हस्त के अनेक उदाहरण हैं—'अगहु म गहि दाहिमओ' में 'दाहिमओ' का ओकार हस्त है। 'मच्छवंघि वद्धओ मरिसि' में 'वद्धओ' का ओकार भी ऐसा ही है। परवर्ती हिन्दी-कविता में यह प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है।

(ख) संयुक्त वर्णों में से एक को ही रखकर पूर्ववर्ती स्वर को लघु बनाना—

अपभ्रंश में 'थक्कइ' (रहता है) प्रयोग मिलता है। इसीसे बँगला थाक् धातु आया है। प्राकृत-पिगलसूत्र में एक सरस उदाहरण इस प्रकार है—

फुल्लिअ केसु कम्प तहं पश्चलिअ मंजरि तेजिअ चूआ
दक्षिण वाउ सीअ भई पवहइ कम्प विअओइणि हीआ ।

केअइ धूलि सब्ब दिस पसरिअ पीअरु सब्बउ भासे
आउ बसन्त काह सहि करिहउ कन्त ण थक्कइ पासे । (पृ० २१२)

[केसु फूलने लगे, पल्लव काँपने लगे, आमों में मंजरी निकल आई, दक्षिण वायु शीतल होकर प्रवाहित होने लगी, वियोगिनियों का हृदय काँपने लगा। केवड़े की धूलि चारों ओर फैल गई, सब जगह बसन्ती रंग लहक उठा—इस प्रकार है सखी, बसन्त तो आ गया, पर प्रिय पास में नहीं हैं !]

किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इस 'थककइ' को 'थकइ' कर लिया जा सकता था। इसी प्राकृत-पिंगलसूत्र के उदाहरण में इस प्रकार है—

जो पुण् पर उवाग्नि विरुज्ज्ञइ

तासु जणणि किण थकइ बज्ज्ञइ ॥ (पृ० १६०)

[जो पुनः परोपकार का विरोध करता है; उसकी माता वाँक्ष क्याँ नहीं रह जाती ?]

हेमचन्द्र में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलने लगते हैं। 'विषमस्तन' का 'विषमत्थन' होना उचित था; किन्तु हेमचन्द्र के उदाहृत दोहे में 'विसम-थन' (३५०) मिलता है। अन्यत्र ऐसे ही स्थल पर 'गण्डथले' न कहकर 'गण्डत्थले' कहा है—'एकहि एक्खर्हिं सावणु अन्नहि भद्रउ; माहउ महियलसत्थरि गण्डत्थले सरउ।' (३५७)

इसी तरह 'उन्मुक्त' से अपभ्रंश रूप 'उमुक्क' बनेगा; पर आवश्यकता पड़ने पर अपभ्रंश का कवि 'उमुक्क' लिख सकता था ('धम्मिल उमुक्कमुह', सं० रा० ९७)। परन्तु वही कवि मौका पड़ने पर 'उसास' लिखने में भी संकोच नहीं करेगा। हिन्दी में 'उच्छाह', 'भगतवच्छल' आदि प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। छन्द का अनुरोध न होता तो ये शब्द 'उच्छाह' से आगे बढ़कर 'ऊछाह' और 'वच्छल' से आगे बढ़कर 'वाच्छल' बन गये होते। सन्देशरासक में और प्राकृत-पिंगलसूत्र के उदाहरणों में यह प्रवृत्ति काफी अधिक है। परवर्ती हिन्दी-साहित्य में तो है ही। समृद्ध का 'समुद्द' होना चाहिए। जायसी ने 'समुद' बना दिया है—'जे एहि खीर समुद महैं परे' (पृ० ६०) और 'दीठि न आव समुद औं गंगा' (पृ० ६०) इत्यादि।

(ग) एक दूसरा कौशल है अनुस्वार को हस्त करने के लिए सानुनातिक-भाव रहने देना और लिखने में चन्द्रविन्दु देकर काम चला लेना। यह भी पुरानी प्रवृत्ति है। हेमचन्द्र ने एक दोहा इस प्रकार दिया है—

विप्पियग्रारउ जइवि पित॒ तोवि तं आणहि अज्जु ।

अग्गिण दट्ठा जइवि घर॒ तोवि ते॑ अग्गि कज्जु ।

[यद्यपि प्रिय अप्रिय काम करनेवाला है तो भी (ए सखी,) तू उसे ले आ। यद्यपि घर आग से जल गया है तो भी आग से काम तो पड़ता ही है !]

यहाँ 'तं' के अनुस्वार को चन्द्रविन्दु में बदल दिया गया है। सन्देशरासक में 'संपूर्ण' से 'सउन्न' बनाया गया है। इसमें 'स' का अनुस्वार एकदम उड़ा दिया गया है। सम्भवतः यह लिपिकार का प्रमाद है। मूल में वह चन्द्रविन्दु के रूप में रहा होगा। हिन्दी में इस प्रकार अनुस्वार से चन्द्रविन्दु और फिर चन्द्रविन्दु का एकदम लुप्त हो जाना बहुत हुआ है: पर्यंकिका—पल्लंकिआ-पालंकि-पालौकी-पालकी। परवर्ती हिन्दी-काव्यों में इस कौशल से बहुत काम लिया गया है ('चेंदनक चौकि बइस तहैं राजा'....इत्यादि)। पु० प्र० के रासो छप्पयों में भी यह प्रवृत्ति है। 'शाकंभरी से 'सायंभरी' और 'साइंभरि' फिर 'सइंभरि' बना है। किन्तु, 'पहु पहुविराय सइंभरि धणी सयंभरि उणइ संभरिसि' में दो स्थानों पर इस अनुस्वार को हल्का करने का प्रयत्न किया गया है। प्राकृत-पिंगलसूत्र के उदाहरणों में भी इस कौशल के चिह्न मिल जाते हैं; 'पंचमी, को 'पैंचमी' किया गया है—

‘पंचमी चउठी तिअहि मिलाउ ।’

४. एक और कौशल है शब्दों को सिकोड़ना या लम्बा खींचना । दोनों ही कौशलों का आविर्भाव अपभ्रंश-रचनाओं में मिलता है और दोनों ही परवर्ती हिन्दी-कविता में प्रयुक्त हुए हैं । इन दोनों कौशलों का नाम संकोचन और सम्प्रसारण दिया जा सकता है ।

(क) संकोचन का कौशल—

‘सहकार’ अपभ्रंश में ‘सहआर’ होगा । सुविधा के लिए इसे ‘साहार’ और फिर ‘सहार’ बनाया जा सकता है । दोनों ही प्रयोग हिन्दी में मिल जाते हैं—

१. हउ किय णिस्साहार पहिय साहार वणि (१३४)

२. सहारह णाउ ण सा अंगिरह ।

इसी प्रकार मयूर से ‘मऊर’ और उससे ‘मोर’ । सं० रा० में भी यह प्रयोग मिलता है और ‘ढोला मारू’ में भी—‘महि मोरा मंडव करह मनमथ अंगिन माइ ।’ इसी तरह ‘द्विगुण’ ‘दिउण’ होगा; किन्तु प्राकृत-पिगलसूत्र में उसे ‘दुण्ण’ करके संकोच किया गया है—‘कण्णो दुण्णो हार एकको विसज्जे । सल्ला कण्णा गंध कण्णा सुणिज्जे ।’ अद्वृत्तीय ‘अद्वीय’ वन जाता है जो आगे चलकर ‘अढाई’ से और भी संकुचित होता हुआ ‘ढाई’ वन गया है । ‘अढाई’ में का ‘अकार’ जिस प्रकार लोप हुआ है वह प्रक्रिया भी अपभ्रंश-काल में परिचित थी । ‘अरण्ण’ से ‘अरण्ण’ और फिर ‘रण्ण’ हेमचन्द्र के व्याकरण में पाया जाता है ।

उपस्कर से ‘उवक्खर’ और उवक्खर का ‘वक्खर’ सन्देशरासक में मिल जाता है (मह साइय वक्खरु हरि गउ तक्खरु जाउ सरणि कसु पहिय भणे, १५) और ‘रन्न’ तो मिल ही जाता है । (मच्छर भय संचडिउ रञ्जि गोपंगणहि, १४६) । इसी प्रकार और भी प्रयोग खोजे जा सकते हैं । ब्रजभाषा में ‘अरु’ का ‘रु’, ‘अहै’ का ‘है’, ‘अही’ का ‘ही’ इसी के रूप हैं । जायसी ने ‘अहा’ (था) का प्रयोग किया है (‘जब लगि गुरु हाँ अहा न चीन्हा’) । इसी का स्त्रीलिंग ‘अही’ होता है और इसी ‘अही’ का संक्षिप्त रूप (संकोच रूप) ‘ही’ है ।

अपभ्रंश में संकोच की प्रवृत्ति और भी कई रूपों में रही । ‘उपदेश’ का अपभ्रंश रूप ‘उवएस’ होगा, इसी का संक्षिप्त रूप ‘उवेस’ बन गया है (सरहे कहिय उवेस)—यह संकोचन का एक उदाहरण है । स्वर्णकार का ‘सुण्णआर’ अपभ्रंश रूप है जिससे सन्देशरासक का ‘सुन्नार’ रूप बना है—

सुन्नारह जिह मम हियउ, पि य उर्किख करेइ ।

विरहु हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिचेइ ॥ (१०८)

[प्यारे सुनार की तरह भेरा हृदय प्रिय की उत्कण्ठा कर रहा है जो विरह-रूपी अग्नि में जलाकर फिर आशा के जल से सींचा करता है ।]

परवर्ती हिन्दी-कविता में यह प्रवृत्ति और भी बढ़ी । ‘सुन्नार’ आगे चलकर ‘सुनार’ बन गया । अपभ्रंश में ‘अइ’ या ‘अय’ जहाँ था वहाँ हिन्दी में ‘ऐ’ बन गया । ‘बउ’ या

'अव' जहाँ था, वहाँ 'और' बन गया। इसी क्रम में मैन (मदन-मयन-मैन), पौन (पवन-पौन), नैन (नयन-नैन) आदि द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार, तुम का वाचक 'पइ' था जो घिसते-घिसते 'पै' रह गया है। जायसी ने इसका प्रयोग बहुत किया है। ('माँगु माँगु पै कहदु पिय, कवहुँ न लेहु न देहु')। विद्वानों ने इसे 'अपि' वाले 'पै' के साथ जोड़ देने का प्रयत्न किया है।

(ख) दूसरा कौशल सम्प्रसारण का है।

हस्त को दीर्घ करने के उदाहरण पहले ही दिये गये हैं और यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार कई स्वार्थक प्रत्ययों के योग से शब्दों को लम्बा बनाया गया है। इनके अतिरिक्त भी कई कौशल हैं।

इस प्रकार, प्रायः उन सभी प्रवृत्तियों का वीजारोपण इस काल की प्रामाणिक रचनाओं में मिल जाता है, जो आगे चलकर भाषाकाव्य में व्यापक रूप से मिलने लगती हैं।



तृतीय व्याख्यान

पिछले व्याख्यान में मैंने यह दिखाया है कि अपन्नंश यादेश्यभाषा की ऐसी रचनाएँ, जिनका निर्माण आज के हिन्दीभाषी क्षेत्रों में हुआ था, प्रायः नहीं मिलतीं। जो मिलती भी हैं, वे अपने मूल अविकृत रूप में नहीं मिलतीं। अपन्नंश के जिन चरितकाव्यों की चर्चा पहले की गई है, वे अधिकांश जैन-परम्परा से प्राप्त हुए हैं और हिन्दी-भाषी क्षेत्रों के बाहर लिखे गये हैं। वे इस बात की सूचना देते हैं कि इस काल में जैनेतर परम्परा में भी प्रचुर काव्य-साहित्य लिखा गया था। नाना ऐतिहासिक कारणों से ये रचनाएँ सुरक्षित नहीं रह सकीं। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना 'पृथ्वीराजरासो' है। किसी समय यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक गाना गया था और पृथ्वीराज-विषयक इतिहास के लिए प्रामाणिक स्रोत समझा गया था। बंगाल की 'एसियाटिक सोसायटी' ने इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था। लेकिन उन्हीं दिनों डॉ० बूलर ग्रन्थानुसन्धान के लिए कश्मीर गये और वहाँ उन्हें 'पृथ्वीराजविजय' की एक खण्डित प्रति मिली। यह सन् १८७६ ई० की बात है। डॉ० बूलर को 'पृथ्वीराजविजय' अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ मालूम हुआ और उन्होंने सोसायटी को एक पत्र लिखकर (सन् १८९३ ई० की प्रोसिडिंग्स देखिये) पृथ्वीराजरासो का मुद्रण बन्द करा दिया। बाद में इस विशाल ग्रन्थ को काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। किन्तु, तभी से विद्वानों के मन में रासों की उपादेयता के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न हो गई। डॉ० बूलर ने अपने पत्र में रासों की इतिहासविश्वदत्ता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। उनका विश्वास था कि पृथ्वीराजविजय में लिखी घटनाएँ सन् १८७३ ई० से सन् १९६८ ई० तक की प्रशस्तियों और शिलालेखों से मिलती हैं। पृथ्वीराजविजय के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर और उसकी रानी कर्पूरदेवी के पुत्र थे। कर्पूरदेवी चेदिदेश के राजा की कन्या थी। पृथ्वीराज को बाल्यावस्था में सिंहासन मिला था और राज्य का संचालन उनकी माता कर्पूरदेवी कदम्बवास नामक मन्त्री की सहायता से करती थीं। कदम्बवास रासों का प्रतापी मन्त्री 'कैमास' है। परन्तु पृथ्वीराजरासो के अनुसार पृथ्वीराज अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न हुए थे और दत्तक भी थे। पृथ्वीराज के लेखों से पृथ्वीराजविजय का ही समर्थन होता है। पृथ्वीराज के अत्यन्त अभिन्न मित्र माने जानेवाले कवि का यह आरम्भ ही इतना गलत हो—यह बात समझ में नहीं आती।

बाद में लोगों ने और भी तरह-तरह की ऐतिहासिक गलतियाँ दिखाईं। रासो के प्रति एक प्रकार का साहित्यिक 'मोह' रखनेवाले विद्वानों को इस बात से कष्ट हुआ। उन्होंने नाना युक्तियों से उसे ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयत्न शुरू किया। एक आनन्द संवत् की वेदुनियादी कल्पना को सहायक बनाया गया। पर रासो वर्तमान रूप में इतनी इतिहास-विरुद्ध घटनाओं का भीजाल है कि उसे किसी भी युक्ति से इतिहास के अनुकूल नहीं सिद्ध किया जा सकता। अब यह निश्चित रूप से विश्वास किया जाने लगा है कि मूल रासो में बहुत अधिक प्रक्षेप होता रहा है और अब यह निर्णय कर सकना कठिन है कि मूल रासो कैसा था। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् म० म० प० गौरीशंकर ओझाजी ने निश्चित प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि रासो का वर्तमान रूप सं० १५७७ और १७३२ के बीच किसी समय में प्राप्त हुआ था, अर्थात् वर्तमान रासो का अन्तिम रूप से संकलन-सम्पादन सत्रहवीं शताब्दी के आसपास हुआ है। इवर जब से मुनि रिनविजयजी ने 'पुरातनप्रवन्ध-संग्रह' में प्राप्त चार छप्पयों की ओर पण्डितों का ध्यान आकृष्ट किया है तब से मूल रासो में प्रक्षेपवाले सिद्धान्त की पुष्टि हो गई है। ये छप्पय प्रायः अपभ्रंश में हैं। वर्तमान रासो में ये विकृत रूप में प्राप्त होते हैं। हम आगेवाले व्याख्यान में इनको उद्धृत करने जा रहे हैं। यहाँ केवल इतना कहना उचित जान पड़ता है कि इन छप्पयों से पृथ्वीराजविजय का भी विरोध नहीं है और रासो में तो ये मिलते ही हैं। इनमें पृथ्वीराजविजयवाले प्रसिद्ध मन्त्री 'कदम्बवास' (कइंमास या कैमास) की पृथ्वीराज द्वारा की दुई हत्या की चर्चा है। इसलिए, इनमें अनैतिहासिक तत्त्व नहीं है। भाषा इनकी अपभ्रंश है और इस तथ्य से यह अनुमान पुष्ट होता है कि रासो में भी कुछ उसी प्रकार की अपभ्रंश में लिखा गया था जिस प्रकार की अपभ्रंश में ग्यारहवीं शताब्दीवाला दमोहवाला शिलालेख (जिसकी चर्चा प्रथम व्याख्यान में की गई है) लिखा गया था।

अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि रासो एक दम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है; पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चय ही साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा। परन्तु, जबकि कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति नहीं मिल जाती, तबकि उसके विषय में कुछ कहना कठिन ही होगा। फिर भी मेरा अनुमान है कि उस युग की काव्य-प्रवृत्तियों और काव्यरूपों के अध्ययन से हम रासो के मूलरूप का सन्धान पा सकते हैं। परिश्रम करके यदि हम उस रूप का कुछ आभास पा जायें तो उसकी साहित्यिक गहिमा और काव्य-सौन्दर्य की किञ्चित् झलक पा सकेंगे; परन्तु भाषा का प्रगति फिर भी विवादास्पद रह जायगा। पुरातनप्रवन्धवाली परम्परा को विश्वास-योग्य मानें तो वह भाषा अपभ्रंश ही थी जो उस युग की प्रवृत्तियों को देखते हुए ठीक ही मालूम देती है। परन्तु उसे मानने में थोड़ी हिचकिचाहट हो भी सकती है। जैनग्रन्थकार अपभ्रंश-भाषा के विषय में जरूरत से कहीं ज्यादा सावधान रहे हैं। जिस प्रकार तुलसीदास की रामायणवाली भाषा को उत्साही ब्राह्मण-पण्डितों के हाथ शुद्ध होकर संस्कृतानुयायी बनना पड़ा है, उसी प्रकार सम्भव है कि चन्द की देशमिथित अपभ्रंश (जो कीर्तिलता के अवहृत के समान भी हो सकती है) उत्साही जैन मुनियों के हाथ कुछ

शुद्ध बनकर विशुद्ध अपभ्रंश बन गई हो। यह सम्भावना हो सकती है। हमें उस ओर से सावधान होना होगा। इसीलिए, मैं भाषा की दृष्टि से इस प्रश्न पर अभी विचार करने योग्य स्थिति में नहीं हूँ। साहित्यिक दृष्टि से यदि कुछ हाथ लग जाय तो वह भी कम लाभ नहीं है। 'अर्धं तजहि बुधं सरबस जाता !'

भिन्न-भिन्न विद्वानों के परिश्रम से अवतक रासो के चार रूप उपलब्ध हुए हैं। इनमें सबसे बड़ा तो काशी-नागरी-प्रचारिणी सभावाला संस्करण है जो सं० १७५० की उदयपुर-वाली प्रति के आधार पर सम्पादित हुआ था। ओरियेण्टल कॉलेज, लाहौर की एक प्रति है जिसको पं० मथुरा प्रसाद दीक्षितजी असली रासो मानते हैं। इसकी एक प्रति वीकानेर के बड़े उपासरे के जैनज्ञानभण्डार में है, एक अबोहर के साहित्यसदन में है और एक श्रीअगरचन्द नाहटा के पास है। दीक्षितजी कहते हैं कि रासो के 'सत्त सहस्र' का अर्थ सात हजार है और इस दूसरे रूपान्तर की श्लोकसंख्या आर्या के हिसाब से लगभग सात हजार है भी। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ संवत् १७०० के बाद की बताई जाती हैं। तीसरा लघु रूपान्तर है जिसकी तीन प्रतियाँ तो वीकानेर-राज्य के अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय में तथा एक श्रीअगरचन्द नाहटा के पास हैं। इसकी एक प्रति सत्रहवीं शताब्दी की है। नाहटाजी-वाली प्रति सं० १७२८ की है और वाकी दो में संवत् नहीं दिया गया है; पर अन्दाज से उनका भी समय इसी के आसपास कूटा गया है। चौथा एक लघुतम संस्करण है जिसे राजस्थानी-साहित्य के परिश्रमी अन्वेषक श्रीअगरचन्दजी नाहटा ने खोज निकाला है। इसका लिपिकाल सं० १६६७ है।^१ यह दावा किया जाने लगा है कि लघुतम रूपान्तर ही मूल रासो है। परन्तु, इतिहास की जिन गलतियों से वचने के लिए बड़े रासो को अप्रामाणिक और छोटे रासो को प्रामाणिक बताया जाता है, उनमें से कुछ-न-कुछ छोटी प्रतियों में भी रह ही जाती हैं। वस्तुतः, कई भिन्न-भिन्न उद्घारकों ने चन्द के मूल ग्रन्थ का उद्घार किया था। सभी संस्करण परवर्ती हैं, सबमें क्षेपक की सम्भावना बनी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर एक भी प्रति प्रामाणिक नहीं ठहरती।^२

इधर उदयपुर के कविराव मोहन सिंह ने रासो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एक दूसरा ही उपाय मुझाया है।^३ उनका कहना है कि रासोकार ने अपने द्वारा प्रयुक्त छन्दों की जाति के बारे में स्वयं ही लिखा है कि—

छन्दं प्रवंधं कवित्तं यति साटकं गाहु दुहृत्यं।

लघु गुरु मंडितं खंडि यहं पिगल अमर भरत्य॥

अर्थात्, (मेरे प्रवन्धकाव्य रासो में) कवित्त (पट्पदी), साटक (शादूलविक्रीडित), गाहा (गाथा) और दोहा नामक वृत्त प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें मात्रादि-नियम पिगलाचार्य के अनुसार हैं और संस्कृत (अमरवाणी) के छन्द भरत के मतानुकूल हैं।

१. डॉ० उदयनारायण तिवारी : वीरकाव्य, पृ० १०८—१११।

२. रासो की ऐतिहासिक आलोचना के सारांश के लिए देखिये, वीरकाव्य, पृ० ११४—१५३।

३. राजस्थान-भारती, भाग १, अंक २-३, जुलाई—अक्टूबर, १९४६ : पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता पर पुनर्विचार।

इस प्रकार, कविरावजी का मत है कि, यही चार छन्द रासो के मूल छन्द है। बाकी सभी प्रक्षिप्त हैं। यह विश्वास किया जा रहा है कि इस बात को स्वीकार कर लेने पर, रासो की ऐतिहासिकता पर अँच नहीं आयगी। कविरावजी का लेख अभी 'राजस्थान-भारती' में छप रहा है। जब वह पूरा प्रकाशित हो जायगा तो उसपर पण्डितों की बहस शुरू होगी। अभी यहाँ उस झगड़े में पड़े विना भी हम आसानी से समझ सकते हैं कि ये चार छन्द यदि रासो के मूल छन्द हों भी तो यह मानने में काफी कठिनाई बनी रहेगी कि प्रक्षेप करनेवालों ने इन छन्दों में रचना करके कुछ प्रक्षेप किया ही नहीं होगा। ये छन्द अपश्रंश के बहुत पुराने और परिचित छन्द हैं, प्रक्षेप करनेवालों ने इन छन्दों का भी उपयोग किया ही होगा और बाकी छन्दों को रासो से निकाल भी दें तो प्रक्षेप की समस्या हल नहीं हो जायगी। रासो के कुछ अशुद्ध वताये जानेवाले संवत् दोहा और छप्प्य छन्दों में ही हैं। दोहा-जैसे छन्द को प्रक्षेप करनेवाले कैसे भूल सकते हैं। दोहा तो अपश्रंश का अत्यन्त लाड़ला छन्द है। अपश्रंश-रचना को दोहावन्ध कहने की प्रथा भी रुढ़ हो गई थी। और फिर पद्धतियावन्ध भी उन दिनों की कथाओं की विशिष्ट पद्धति बन गया था। यह भी कैसे मान लें कि पद्धतिया को चन्द-जैसे कवि ने अपने काव्य का छन्द चुना ही नहीं होगा। लेकिन, जैसा कि मैंने अभी कहा है, इस विवाद में पड़ना अर्थ है। रासो में इतिहास की संगति खोजने का प्रयास ही वेकार है। हम आगे इस बात पर थोड़ा विस्तारपूर्वक विचार करने का अवसर पायेंगे।

एक ध्यान देने योग्य मजेदार बात यह है कि प्रायः सभी चरितकाव्यों ने अपने को 'कथा' कहा है। पुराने साहित्य में कथा शब्द का व्यवहार स्पष्ट रूप से दो अर्थों में हुआ है। एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरा अलंकृत काव्यरूप के अर्थ में। साधारण कहानी के अर्थ में तो पंचतन्त्र की कथाएँ भी कथा हैं, महाभारत और पुराणों के आख्यान भी कथा हैं और सुवाहु की वासवदत्ता, वाण की कादम्बरी, गुणाद्य की बृहत्कथा आदि भी कथा हैं। परन्तु, विशिष्ट अर्थ में यह शब्द अलंकृत गद्यकाव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। कव से यह इस अर्थ में चलने लगा, यह कह सकना थोड़ा कठिन ही है। भामह और दण्डी ने अलंकृत गद्यकाव्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। दण्डी तो स्वयं इस प्रकार के अलंकृत गद्य के लेखक भी हैं। उनके बहुत पहले से ही अलंकृत गद्यकाव्य लिखे जाने लगे थे। महाक्षनप रुद्रदामा ने अपने को गद्य-पद्य और अलंकार का ज्ञाता ही नहीं कहा है, उनके द्वारा खुदवाया हुआ गिरनारवाला शिलालेख स्वयं ही गद्यकाव्य का एक अच्छा नमूना है। इसलिए, इतना तो निश्चित है कि अलंकृत गद्य लिखने की प्रथा बहुत पहले से विद्यमान थी। भामह और दण्डी ने लक्ष्य को देखकर ही लक्षण बनाये होंगे। उनके अपने वक्तव्यों से ही स्पष्ट है कि वे प्राकृत और अपश्रंश-भाषा में लिखे गये काव्यों से परिचित थे। प्राकृत के अत्यन्त महत्वपूर्ण कथाकाव्य को कैसे भूल सकते थे! इसलिए, कथा का लक्षण लिखते समय उनके सामने प्राकृत और संस्कृत की कथा-पुस्तकें अवश्य वर्तमान थीं। चरितकाव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही। तुलसीदासजीका रामचरितमानस 'चरित' तो है ही, कथा भी है। उन्होंने कई बार इसे कथा कहा है। विद्यापति ने अपनी छोटी-सी

पुस्तक कीत्तिलता को 'काहाणी' या कहानी (कथानिका) कहा है—‘पुरिस काहाणी हज़े कहउँ’। रासो में भी कई बार उस काव्य को ‘कीत्तिकथा’ कहा गया है।^१ इस प्रकार, यह ‘कथा’ शब्द बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। कुछ थोड़े-से सामान्य लक्षण इन काव्यों में अवश्य एक-से रहते होंगे। उनपर विचार किया जाना चाहिए।

संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों ने ‘कथा’ शब्द का प्रयोग एक निश्चित काव्यरूप के अर्थ में किया है। संस्कृत की ‘कथा’ गद्य में लिखी जाती थी। एक इसी श्रेणी की गद्यवद्ध रचना और भी होती थी जिसे आख्यायिका कहते थे। भामह ने काव्यालंकार (१।२५-२८) में सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानीवाली रचना को आख्यायिका कहा है। यह उच्छ्वासों में विभक्त होती थी और इसका कहनेवाला और कोई नहीं, स्वयं नायक होता था। इसमें वीच-वीच में वक्त और अपवक्त छन्द आ जाते थे। इसमें कन्याहरण, युद्ध, विरोध और अन्त में नायक की विजय का उल्लेख भी होता था। ‘कथा’ इससे थोड़ा भिन्न हुआ करती थी। उसमें वक्त और अपवक्त छन्द नहीं होते थे और न उसका विभाजन ही उच्छ्वास-संज्ञक अव्यायों में हुआ करता था। इसकी कहानी स्वयं नायक नहीं कहा करता था; वल्कि किन्हीं दो व्यक्तियों की वातचीत के रूप में कह दी जाती थी। उसके लिये भाषा का कोई वन्धेज नहीं था। भामह के इस कथन को ही मानो सामने रखकर दण्डी ने ‘काव्यादर्श’ (१।२३—२८) में कहा था कि कथा और आख्यायिका वस्तुतः एक ही श्रेणी की रचनाएँ हैं; क्योंकि कहानी नायक कहे या कोई और कहे, अध्याय का विभाजन हो या न हो, अध्यायों का नाम उच्छ्वास रखा जाय या लम्भ रखा जाय, वीच में वक्त या अपवक्त छन्द आते हों या न आते हों, इससे कहानी में क्या अन्तर आ जाता है? इसलिए, इन ऊपरी भेदों के कारण ‘कथा’ और आख्यायिका’ में अन्तर नहीं करना चाहिए।^२ दण्डी का यह कथन संकेतपूर्ण है। हम आगे इस संकेत को समझने का प्रयास करेंगे।

१. रासो में कई जगह ‘कथा’ कहने की वात आई है। परन्तु, आरम्भक पद्यों में एक प्राकृत की गाथा आई है, जिसका उल्लेख इसी व्याख्यान में आगे किया जा रहा है। उसमें ‘कित्त कहो आदि अन्ताई’ पाठ है। गाथा प्राकृत में लिखी गई होगी। उसमें ‘वुत्त’ या ‘उत्त’ पहले ही आ चुका है, इसलिए फिर से ‘कहो’ की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। जान पड़ता है, यहां मूलरूप में ‘कहो’ नहीं, ‘कहा’ था। इस प्रकार, मूलरूप इस प्रकार रहा होगा—‘दिल्ली ईस गुणाणं कित्तिकहा आदि अन्ताणं’।

२. अपादः पादसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा ।

इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥
 नायकेनेव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
 स्वगुणाविधिक्या दोषो नाव्र भूतार्थशंसिनः ॥
 अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यं रुदीरणात् ।
 अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदलक्षणम् ॥
 वक्तवं चापरवक्तवं च सोच्छ्वासं चापि भेदकम् ।
 चित्तमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसङ्गोन कथास्वपि ॥
 आर्यादिवत्प्रदेशः किं न वक्त्रापरवक्तव्योः ।
 भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः ॥
 तत्कथाख्यायिकेत्येव जातिः संज्ञाद्याद्बूता ।
 अत्रैवाविभविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥

यद्यपि दण्डी ने भामह की बात को इस तर्क से काट दिया है तथापि भामह की बातों में एक प्रकार की सचाई है। भामह ने अपने समय में संस्कृत-गद्य में लिखी जानेवाली कथाओं के साथ प्राकृत और अपभ्रंश में लिखी जानेवाली कथाओं को भी देखा था। उनसे यहुत पूर्व 'वृहत्कथा' ख्यात हो चुकी थी। संस्कृत-कथा के तीन प्राचीन और प्रोड़ लेखक—दण्डी, सुवाहु और वाणभट्ट—अपनी कथावस्तु के लिए वृहत्कथा के ऋणी हैं। काव्यालंकार के लेखक रुद्रट (लगभग नवीं शताब्दी) ने लिखा है कि केवल संस्कृत में निवद्ध कथाओं के लिये गद्य में लिखने का वन्धन है; परन्तु अन्य भाषाओं में लिखी जानेवाली रचनाएँ पद्य में भी लिखी जा सकती हैं। यहाँ 'अन्य भाषाओं' से प्राकृत और अपभ्रंश की ओर इशारा है। नमिसाधु ने तो अपनी टीका में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण तु अगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात्'। अर्थात् 'दूसरी भाषाओं का अर्थ है प्राकृत आदि भाषाएँ; उनमें अगद्य में अर्थात् गाथाओं में कथा लिखी जानी चाहिये।' इस प्रकार, भामह और रुद्रट के बताये हुए कथालक्षणों से स्पष्ट होता है कि 'कथा' संस्कृत से भिन्न भाषाओं में पद्य में भी लिखी जाती थी। प्राकृत और अपभ्रंश में उन दिनों निश्चय ही पद्य में लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्तमान या जिन्हें 'कथा' कहा जाता था। प्राकृत में लिखी कथाएँ पद्यवद्ध भी होती थीं और 'गद्य' में भी लिखी जाती थीं। वृहत्कथा के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप में कहना कठिन है कि यह गद्य में लिखी गई थी या पद्य में, परन्तु 'वसुदेवहिण्डी' नामक गद्य-निवद्ध प्राचीन प्राकृत कथा उपलब्ध हुई है जो यह सूचित करने के लिये पर्याप्त है कि प्राकृत में गद्य-वद्ध कथाएँ अवश्य लिखी जाती थीं। सौभाग्यवश कुछ प्राकृत पद्य-वद्ध कथाएँ भी उपलब्ध हुई हैं और प्रकाशित भी हुई हैं।

प्राकृत में लिखी हुई सबसे पुरानी कथा तो गुणाद्य की वृहत्कथा ही है। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने मूलरूप में प्राप्त नहीं है। सन् ईसवी की आठवीं-नवीं शताब्दी के साहित्य से पता चलता है कि उस समय तक यह कथा प्राप्त थी। यहाँ तक कि लगभग सन् ८७५ ई० में कम्बोडिया की एक संस्कृत-प्रशस्ति में भी गुणाद्य और इनकी वृहत्कथा की चर्चा आई है। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत में लिखा गया था। इसके निर्माण की कहानी बड़ी मनोरंजक है। गुणाद्य पण्डित महाराज सातवाहन के सभापण्डित थे। ये महाराज सातवाहन भी उदयन, विक्रमादित्य (साहसांक) की भाँति दर्जनों निजन्धरी कहानियों के नायक हैं। उदयन और विक्रमादित्य की भाँति ये भी ऐतिहासिक पुरुष थे। सातवाहन राजाओं ने दीर्घकाल तक दक्षिण में राज्य किया था। सिक्कों पर उनके 'साड़', 'सात' आदि नाम प्राप्त हुए हैं। पण्डित ने अनुमान किया है कि 'हाल' वस्तुतः 'साड़' शब्द का ही प्राकृत रूप है। वर्ण-प्रतिवर्त्तन के आधार पर निश्चित किया हुआ यह सिद्धान्त सही हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। परन्तु, इतना सत्य है कि 'हाल' प्राकृत-साहित्य के उसी प्रकार पुरस्कर्ता थे जिस प्रकार विक्रमादित्य संस्कृत-साहित्य के। ब्राह्मण-साहित्य में अपने प्राकृत-प्रेम के कारण इन्हें कई बार उपहास का पात्र बनना पड़ा है। हम अभी जिस मनोरंजक

कहानी की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने जा रहे हैं, वह ऐसे ही उपहास का घोतक है।

'हाल' की 'सत्तसई' प्राकृत-कविताओं का अपूर्व संग्रह है। शताव्दियों से वह पण्डितों का कण्ठाहार बनी हुई है। इसके कोई एक दर्जन रूप हमें परम्पराक्रम से प्राप्त हुए हैं। विशेषज्ञों ने सब रूपों के अध्ययन के बाद दिखाया है कि सात सौ में लगभग चार सौ गाथाएँ पुरानी हैं। वाकी परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुई हैं। इस पुस्तक का मूल नाम 'गाथाकोश' था। एक गाथा के अनुसार, कवि-वत्सल 'हाल' ने एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर इन सात सौ पद्यों का संग्रह किया था। एक मजेदार कहानी में तो यह भी कहा गया है कि सरस्वती के वरदान से 'हाल' के राज्य का प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक दिन के लिये कवि हो गया था और सबने अपनी कविताएँ 'हाल' को दी थीं। उन्हीं में से चुनी हुई कविताओं का संग्रह 'सत्तसई' है। इसमें तो कोई शक नहीं कि 'हाल' प्राकृत-साहित्य के पृष्ठपोषक थे। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में तो इस अनुश्रुति का भी उल्लेख किया है कि सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में केवल प्राकृत बोलने का ही नियम बना दिया था। यह सातवाहन और हाल एक ही व्यक्ति होंगे। ऐसा प्राकृत-प्रेमी राजा प्राकृत-निबद्ध प्रेम-गाथाओं का नायक हो, यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है और शायद यह भी स्वाभाविक ही है कि ऐसे प्राकृत-प्रेमी राजा को संस्कृत से अनभिज्ञ बताकर उपहास का पात्र बनाया जाय।

सो, एक बार यही राजा सातवाहन जलक्रीड़ा करते समय संस्कृत की अनभिज्ञता के कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर देंठे कि जबतक धारावाहिक रूप से संस्कृत लिखने-बोलने नहीं लगेंगे तबतक वाहर मुँह नहीं दिखायेंगे। राज-काज बन्द हो गया, गुणाद्य पण्डित दुलाये गये। उन्होंने ६ वर्ष में संस्कृत सिखा देने की प्रतिज्ञा की, पर एक दूसरे पण्डित ने ६ महीने में ही इस असाध्य-साधन का ब्रत ले लिया। गुणाद्य के मत से यह असम्भव बात थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि कोई ६ महीने में संस्कृत सिखा देगा, तो वह संस्कृत में लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। ६ महीने बाद राजा तो सचमुच ही धारावाहिक रूप से संस्कृत बोलने लगे; पर गुणाद्य पण्डित को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मौन होकर पिशाचों की बस्ती में जाना पड़ा। उनके दो शिष्य उसके साथ हो लिये। वहीं किसी गन्धवं में जो शापवश पिशाच हो गया था, कहानी सुनकर गुणाद्य पण्डित ने इस विशाल ग्रन्थ को पैशाची भाषा में लिखा था। कागज का काम सूखे चमड़ों से लिया गया और स्याही का काम पशुओं के रक्त से। पिशाचों की बस्ती में और मिल ही क्या सकता था। कथा जब पूरी हुई तो गुणाद्य पण्डित शिष्यों सहित फिर राजधानी लौट आये। स्वयं तो वे नगर के उपकण्ठ में ही ठहर गये, पर ग्रन्थ को शिष्यों के हाथ राजा के पास भिजवा दिया। राजा ने सब जान-सुनकर कहा कि भला जिस पुस्तक की भाषा पैशाची हो, स्याही रक्त हो, लेखक मौन और मत्त हो, उसकी कथावस्तु में विचारने योग्य हो ही क्या सकता है —

पैशाची वाग् मषी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः।

इति राजाऽन्नवीत् का वा वस्तुसारविचारणां॥ (बृहत्कथामंजरी, ११८७)

गुणाद्य पण्डित ने जो सुना तो व्यथित होकर पुस्तक जला देने की ठानी। शिष्यों के आग्रह पर उन्होंने एक बार कथा सुना देने का अनुग्रह किया। आग जला दी गई, पण्डित आसन बाँधकर बैठ गये, एक-एक पन्ना पढ़कर आग में जला दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और मोहक थी कि पश्चु-पक्षी, मृग और व्याघ्र खाना-पीना छोड़कर, बैर विसारकर सुनने लगे। उनके मांस सूख गये। जब राजा की रन्धनशाला में ऐसे ही पशुओं का मांस पहुँचा तो शुष्क मांस के भक्षण से राजा के पेट में दर्द हुआ। वैद्य ने नाड़ी देखकर रोग का निदान किया, विधिकों से कैफियत तलब की गई और इस प्रकार अज्ञात पण्डित के कथावाचक की मनोहारिता राजा के कानों में पहुँची। परन्तु, जबतक आश्चर्य-चकित राजा वहाँ उपस्थित होते हैं तबतक ग्रन्थ के सात भागों में से छः भाग जल चुके थे। राजा की प्रार्थना पर सिर्फ एक ही भाग बच सका। उसी बचे भाग की कथा हमारे पास मूलरूप में तो नहीं आ सकी; परन्तु संस्कृत-अनुवाद के रूप में आज भी उपलब्ध होती है। वृद्धस्वामी के 'वृहत्कथाश्लोकसंग्रह', क्षेमेन्द्र की 'वृहत्कथामंजरी' और सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में वृहत्कथा के उस अवशिष्ट अंश की कहानियाँ संगृहीत हैं।

इनमें पहला ग्रन्थ नैपाल के और वाकी कश्मीर के पण्डितों की रचना है। यह तो नहीं पता चलता कि गुणाद्य ने मूल कहानी गद्य में लिखी थी या पद्य में। लोकसंग्रह से जान पड़ता है कि वह पद्य में ही लिखी गई होगी, पर कथा की परवर्ती परिभापाओं को देखकर वहुतेरे पण्डित उसे गद्य में लिखी बताते हैं। वैसे तो यह विवाद तबतक चलता रहेगा जबतक सौभाग्यवश मूलग्रन्थ की कोई प्रति न मिल जाय। किन्तु, मैं अपना यह विश्वास प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मूलकथा पद्यबद्ध थी और वहीं से प्राकृत-भाषा या लोकभाषा में पद्यबद्ध कथाओं के लिखने की परम्परा शुरू होती है।

रुद्रट ने कथा या महाकथा के लिए जो लक्षण बताये हैं वे वस्तुतः उस समय की प्राकृत या अपभ्रंश कथाओं को देखकर ही लिखे गये होंगे। साधारणतः, लक्ष्य को देखकर ही लक्षण बनाने का नियम है। रुद्रट के अनुसार कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए, फिर ग्रन्थकार का अपना और अपने कुल का परिचय दिया जाना चाहिए और उसके बाद कथा लिखने का उद्देश्य वर्णन करना चाहिए। गुरु में एक कथान्तर होना चाहिए जो प्रधान कहानी का प्रस्ताव कर सके। सरस वर्णनों से संजीवित कन्याप्राप्ति ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य होना चाहिए।¹ रुद्रट से कुछ पूर्व की लिखी

-
१. श्लोकमंहाकथामिष्टान् देवान् गुरुन्नमस्कृत्य ।
संक्षेपेण निजं कुलभिदध्यात्स्वं च कर्तृतया ॥
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन ।
रचयेत् कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभूतीन् ॥
आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत् प्रपञ्चितं सम्यक् ।
लघु तावत् सन्धानं प्रकान्तकथावताराय ॥
कन्यालाभफलां वा सम्यग् विन्यस्य सकलभृज्ञारम् ।
इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन ॥

कौतूहल कवि की 'लीलावती' नामक कथा प्राप्त हुई है जो हू-ब-हू इन लक्षणों से मिलती है। भामह ने जो इशारा किया था कि कथा में उच्छ्वास आदि के रूप में अध्यायों का विभाजन नहीं होता, वह इस कथा में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कथा का कहनेवाला यहाँ नायक नहीं है। यह कवि और कवि-पत्नी की वातचीत के रूप में कही गई है। इस प्रकार दो व्यक्तियों की वातचीत के रूप में कथा कहने की प्रथा इस देश में बहुत पुरानी है।

भामह ने जब कथा और आच्यायिका में यह भेद किया था कि एक तो दूसरे की वातचीत के रूप में कही जानी चाहिए और दूसरी स्वयं नायक के द्वारा, तो उन्होंने सम्भवतः यह बताना चाहा था कि कथा में कल्पना की गुंजायश अधिक होती है और आच्यायिका में कम। एक की कहानी काल्पनिक होती है और दूसरी की ऐतिहासिक। परवर्ती आलंकारिकों ने कादम्बरी को 'कथा' कहा है और हर्षचरित को 'आच्यायिका'। काल्पनिक कहानी में सम्भावना पर बल दिया जाता है और ऐतिहासिक कहानी में नायक के वास्तविक जीवन में घटित तथ्य की ओर। शुरू-शुरू में काल्पनिक और ऐतिहासिक कहानियों के इस भेद को लक्ष्य किया होगा। भामह की कथा से ऐसा अनुमान होता है। ऐसा लगता है कि वे कहना चाहते हैं कि कथा प्रधानरूप में ऐसी कहानी है जिसमें कहानीपन अधिक है। कथावस्तु की संघटना, पात्रों के भावों के उत्तार-चढ़ाव, कथावस्तु और चरित्र-चित्रण का, एक दूसरे को गति देते रहने का गुण और, सबसे बढ़कर, रस का उत्तम परिपाक इसका मुख्य लक्ष्य था। आच्यायिका में नायक की स्वयं देखी-सुनी घटनाओं की प्रचुरता के कारण कवि को कल्पना के द्वारा देखने का यथेच्छ अवकाश नहीं रह सकता। वह कथावस्तु को पात्रों के भीतरी गुणों के साथ इस प्रकार गूँथ सकता कि वे एक दूसरे को धक्का मार-मार के उसके (कवि के) अभिलिपित लक्ष्य तक ले जा सकें। बहुत-सी असम्भव दीखनेवाली वातों का होना रस-परिपाक में वाधक होता है। पुरानी कथाओं में कथानक-रूढ़ि के रूप में बहुत-सी अनहोनी वातें आ गई हैं। कथा के लेखकों ने उनको सम्भव बनाने के लिए कुछ सम्भावनाओं का सहारा लिया था जो आगे चलकर कथानक-सम्बन्धी अभिप्रायों का कारण बन गई। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ प्रकृत यही है कि कल्पनामूलक कथाओं का दो व्यक्तियों की वातचीत के रूप में कहना कुछ अप्रत्यक्ष-सा होता है और कवि का उत्तरदायित्व कम हो जाता है। आच्यायिका में यह सुविधा नहीं रहती; परन्तु भामह के ऊपर किये हुए दण्डी के आक्षेपों को देखते हुए यह निश्चित रूप से समझा जा सकता है कि ऐतिहासिक और काल्पनिक कथाओं के इस भेद को बहुत ही शीघ्र भुला दिया गया। यह जो दो व्यक्तियों के बीच वातचीत के रूप में कथा कहने की पद्धति है, वह इस देश की बहुत पुरानी प्रथा है। महाभारत में इसी प्रकार पूर्वकथा कहकर श्रोता-वक्ता की योजना की गई है। यद्यपि आदिकाव्य रामायण में श्रोता-वक्ता की योजना नहीं है तथापि पूर्वकथा उसमें भी है। लौकिक कथाओं में यह प्रथा शुरू-शुरू में सम्भवतः इसलिए व्यवहृत हुई थी कि कथा में असम्भव समझी जाने योग्य वातों को पर-प्रत्यक्ष बताकर उसकी असम्भाव्यता की मात्रा कम कर दी जाय। हमने ऊपर देखा है कि बहुतकथा में भी एक मनोरंजक कथान्तर या पूर्वकथा है; परन्तु वह ठीक प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं है।

'लीलावती' में वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। कादम्बरी में भी कथा शुक के द्वारा कहलवाई गई है और पूर्वकथा में वताया गया है कि किस प्रकार यह कथा ऋषिकुमारों के प्रश्नों के उत्तर में जावालि ऋषि ने सुनाई थी और किस प्रकार शुक ने उनसे कथा सुनी, और इस प्रकार मूलतः प्रश्नोत्तर के रूप में ही यह कथा कही गई है। लीलावती में पूर्वकथा का घटाटोप उतना नहीं है। वहाँ सिर्फ कवि की पत्नी ने सायंकालीन मधुर शोभा को देखकर अपने प्रियतम को सम्बोधन करके कहा कि कोई सरस कथा कहो। इसके लिये बहुत अधिक भूमिका की जरूरत नहीं समझी गई। थोड़ी तो समझी ही गई है; क्योंकि इतना भी न रहे तो कथा भी ग्राम्य कवि की कही हुई कहानी बन जाय। सो, कवि की पत्नी ने देखा कि अन्तःपुर की गृहदीर्घिका या भवनवापी में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से झमकती हुई कान्तिवाले गन्धोत्कट कुमुदों में रसलोभ से कम्पमान भ्रमर छक्कर मकरन्द पान कर रहे हैं—

जोण्हाऊरिय-कोस-कन्तिधवले सब्वंगगंधुककडे
णिव्विग्धं घर दीहियाए सुरसं वेवंतओ मासलं ।
आसाएइ सुमंजु गुञ्जियरवो तिगिच्छ पाणासवं
उम्मिलंत दलावली परियओ चंदुज्जए छ्पपओ ॥ २४ ॥

और फिर इसी प्रकार की मनोहर रात्रि भी है। यह समय कथा के लिए निश्चित ही बहुत उपयुक्त है। इसके बाद कथा शुरू हो जाती है। वीच-वीच में कवि विना प्रसंग के ही 'प्रियतमे', 'कुवलयदलाक्षि' आदि सम्बोधनों का उसी प्रकार प्रयोग कर वैठता है जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी अपने मानस में 'उमा', 'खगेश', 'उरगारि' आदि सम्बोधनों का प्रयोग कर देते हैं। वस्तुतः, तुलसीदासजी ने जब एक बार अपनी रचना को 'कथा' कह दिया तो उन्होंने उन सब रूढ़ियों का विधिवत् पालन किया जो प्राकृत और अपभ्रंश-कथाओं के लिये आवश्यक समझी जाती थीं। खल-निन्दा में भी नहीं चूके। कथान्तर रूप में पूर्व-कथा की योजना उन्होंने भी की है और श्रोता-वक्ताओं के कई जोड़े उपस्थित किये हैं। मैं ठीक नहीं कह सकता कि इस प्रकार कई जोड़े श्रोता-वक्ता की योजना किसी अपभ्रंश-काव्य में थी या नहीं। उपलब्ध अपभ्रंश-काव्यों में मुझे इस प्रकार का जटिल प्रश्नविधान नहीं मिला। जटिलता का एक कारण तो यही हो सकता है कि तुलसीदासजी की कथा सिर्फ कथा नहीं, 'पुराण' भी है। मेरे मित्र डॉ० श्रीकृष्णलाल ने दिखाया है कि तुलसीदासजी के रामचरितमानस को 'पुराण' कहना अधिक संगत है। पुराणों में जटिल प्रश्नोत्तरविधान की योजना मिल जाती है; लेकिन पृथ्वीराजरासो में सम्भवतः इस प्रकार की जटिलता का कुछ आभास पाया जा सकता है। हिन्दी के आरम्भकाल में पाई जानेवाली कथाओं में इस प्रकार की श्रोता-वक्ता की योजनावाला विधान मिल जाता है। कीर्त्तिलता की कहानी भूंग और भूंगी की बातचीत के रूप में है। यद्यपि पद्मावती की पूरी कहानी किसी शुक के मुँह से नहीं कहलाई गई है तथापि शुक उस कहानी का महत्वपूर्ण पात्र है और कथा में गति देने में वह विशेष रूप से सहायक है। जहाँ तक कथानक को श्रोता-वक्ता के रूप में कहने का सम्बन्ध है, सूफी कवियों में इस प्रकार की

रुढ़ि कम पालित हुई है। जैन अपभ्रंश-चरित-काव्यों में भी इस रुढ़ि का विशेष पालन नहीं हुआ। फिर राजपूताने में पाई जानेवाली 'ढोला मारू' की कहानी भी सीधे ही शुरू होती है। संस्कृत में लिखे हुए जैनकवि हरिषणेचार्य के 'कथाकोश' नामक ग्रन्थ में संगृहीत सभी कथाएं सीधे ही शुरू होती हैं। इससे केवल यह निष्कर्ष निकलता है कि यह प्रथा बहुत व्यापक नहीं थी।

मैंने अबतक जो ऐतिहास के पुराने खँडहरों में आपको भटकाया वह केवल जानकारी बढ़ाने के उद्देश्य से नहीं। मैं इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता था कि प्राचीन काल से ही प्राकृत और संस्कृत-कथाओं में श्रोता और वक्ता^१ की परम्परा रखने का नियम चला आ रहा है। जैनकवियों में और सूफी कवियों में इस नियम के पालन में थोड़ी शिथिलता दिखाई पड़ती है; परन्तु अन्यत्र श्रोता-वक्ता का रखना आवश्यक समझा जाता है। ग्यारहवीं-वारहवीं शताब्दी में भी यह नियम जरूर माना जाता रहा होगा। वेतालपंचविंशति, शुकसप्तति आदि कथाओं में भी पूर्वकथा की योजना की गई और रासों में तो यह योजना स्पष्ट ही मिल जाती है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति की कीर्तिलता में उस समय के देश-भाषा-साहित्य के गुणानुवादप्रधान चरित-काव्यों के अनेक लक्षण मिलते हैं और यह पुस्तक उस युग के गुणानुवादमूलक चरित-काव्यों में सबसे अधिक प्रामाणिक है। कवि ने उसे 'कहाणी' या 'कथानिका' कहा है जो सम्भवतः उसके आकार की छोटाई के कारण है। उसमें प्रायः उन सभी छन्दों का व्यवहार हुआ है जिनका रासो में व्यवहार मिलता है। रासो की ही भाँति उसमें संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का प्रयोग है और देशमिश्रित अपभ्रंश तो वह है ही। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों ऐतिहासिक व्यक्ति के गुणानुवाद-मूलक चरितकाव्य इसी ढंग से लिखे जाते थे। विद्यापति के सामने ऐसा ही कोई ग्रन्थ आदर्श रूप में उपस्थित था। मैं यह नहीं कहता कि वह ग्रन्थ 'पृथ्वीराजरासो' ही था; क्योंकि गद्यपद्यमयी रचना को संस्कृत में 'चम्पू' कहते हैं। किन्तु प्राकृत की पद्यवद्ध कथाओं में थोड़ा-थोड़ा गद्य भी रहा करता था। लीलावती में गद्य है, पर वह नाममात्र का ही है। कीर्तिलता में गद्य और पद्य दोनों हैं। रासो में भी गद्य अवश्य रहा होगा। वस्तुतः रासो में बीच-बीच में जो वचनिकाएँ आती हैं, वे गद्य ही हैं। निस्सन्देह इन वचनिकाओं की भाषा में भी परिवर्तन हुआ होगा; परन्तु वे इस बात के सबूत के रूप में आज भी वर्तमान हैं कि उन दिनों की प्राकृत और अपभ्रंश-कथाओं के सम्पूर्ण लक्षण रासो में मिलते हैं।

पृथ्वीराजरासो चरितकाव्य तो है ही, वह रासो या 'रासक' काव्य भी है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में रासक को गेय रूपक माना है।^१ ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते थे—मसृण अर्थात् कोमल, उद्धत और मिश्र। रासकमिश्र गेय रूपक है। टीका में इन गेय रूपकों के सम्बन्ध में बताया गया है कि इनमें से कुछ तो स्पष्ट रूप से कोमल हैं जैसे

१. गेय डोम्बिकाभाषणप्रस्थानशिङ्कभाणिकाप्रेरणराकाकीडहल्लीसकरासगोष्ठीशीगदित-रागकाव्यादि। (८-४)

डोम्बिका । इस गेय रूपक के बारे में अधिक विचार करने का अवसर हमें आगे मिलेगा । कुछ दूसरे हैं, जो स्पष्ट रूप से उद्धत रूपक हैं, जैसे—भाणक । कुछ ऐसे हैं, जिनमें मसृण की प्रधानता होती है, कुछ उद्धत भी मिल जाता है । कुछ में उद्धत कम मिला होता है, जैसे—प्रस्थान । कुछ में अधिक मिला होता है, जैसे—शिङ्गाटक । परन्तु ऐसे भी कई हैं, जिनका प्रधान रूप तो उद्धत होता है, फिर भी थोड़ा-बहुत मसृण का प्रवेश हो जाता है । भाणिका ऐसा ही है । फिर प्रेरण, रामाक्रीड़, रासक, हल्लीस आदि ऐसे ही रूपक हैं । सो, रासक आरम्भ में एक प्रकार के उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेय रूपक को कहते थे, जिसमें थोड़ा-बहुत 'मसृण' के कोमल प्रयोग भी मिले होते थे । इसमें बहुत-सी नर्तकियाँ विचित्र ताल-न्यय के साथ योग देती थीं । यह मसृणोद्धत ढंग का गेय रूपक था । सन्देशरासक इसी प्रकार का रूपक है । यह मसृण अधिक है । पृथ्वीराजरासो यदि सचमुच ही पृथ्वीराज के काल में लिखा गया था तो उसमें रासक-काव्य के कुछ-न-कुछ लक्षण भी अवश्य रहे होंगे । सन्देशरासक का जिस ढंग से आरम्भ हुआ है, उसी ढंग से रासो का भी आरम्भ हुआ है । आरम्भ की कई आर्याएँ तो बहुत अधिक मिलती हैं । उदाहरण लीजिए—

सन्देशरासक—

जइ बहुलदुद्ध संमीलिया य उल्ललइ तंदुला खीरी ।

ता कणकुकक्षस साहिंशा रव्वडिया मा दडब्बठउ ॥ १६ ॥

[यदि प्रचुर दूध मिलाकर (बड़े घरों में) तन्दुल-खीर बनाया जाता है तो गरीब लोग क्या कण-भूसी मिलाकर मट्ठे की रवड़ी न डभकाएँ?]

पृथ्वीराजरासो—

पय सककरी सुभत्तौ, एकत्तौ कनय राय भोयंसी ।

कर कंसी गुज्जरीय, रब्बरियं नैव जीवंति ॥ छं० ४३, रू० १६ ॥

[यदि दूध-शक्कर और भात मिलाकर (बड़े घरों की) लड़कियाँ राजभोग बनाती हैं तो (गरीब) गूजरी क्या कण-भूसीवाली रवड़ी (मट्ठे की) से जीवन-निर्वाह न करें?]

सन्देशरासक—

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंगचंगिमा तरुणी ।

ता कि गाम गहिली ताली सहेण णच्चेइ ॥ १५ ॥

[यदि भरत मुनि के बताये रस-भाव-छन्द के अनुसार नव-रंग-चंगिमा तरुणी नाचती है तो क्या गाँव-गहेलरी ताली के शब्दों से (ताल देवेकर) न नाचे?]

पृथ्वीराजरासो—

सत्त खैन आवासं, महिलानं मह् सह् नूपुरया ।

सतफल बज्जुन पयसा, पब्बरियं नैव चालंति ॥ छं० ४४, रू० १७ ॥

[सतखण्डे महलों में सुन्दरी महिलाएँ नूपुर-छवनि के साथ मादक नृत्य करती हैं तो शतफला धू-धूची के फल पैरों में बांधकर पर्वत-कन्याएँ न नाचें?] इत्यादि ।

सन्देशरासक में युद्ध का कोई प्रसंग नहीं है। पर उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेय रूपक में युद्ध का प्रसंग आना प्रयोगानुकूल ही होगा और युद्धों के साथ प्रेम-लीलाओं का मिश्रण भी प्रयोग और वक्तव्य-विषय के मिश्रण के अनुकूल ही होगा। इससे लगता है कि पृथ्वीराज-रासो आरम्भ में ऐसा कथाकाव्य था, जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग-प्रधान मसृण-प्रयोग-युक्त गेय रूपक था। उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी।

हेमचन्द्राचार्य ने यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि इन काव्य-रूपों के ये भेद पुराने लोगों के बताए हुये हैं—‘पदार्थाभिनयस्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरन्तनैस्त्कानि।’ और, उन्होंने पुराने आचार्यों के बताये लक्षण भी उद्भूत किये हैं। धीरे-धीरे इन शब्दों का प्रयोग कुछ विसंगति में होने लगा। जिस प्रकार ‘विलास’ नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, ‘रूपक’ नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, ‘प्रकाश’ नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए, उसी प्रकार ‘रासो’ या ‘रासक’ नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गये। जब इन काव्यों के लेखक इन शब्दों का व्यवहार करते होंगे तो अवश्य ही उनके मन में कुछ-न-कुछ विशिष्ट काव्यरूप रहता होगा। राजपूताने के डिगल-साहित्य में, परवर्ती काल में ये शब्द साधारण चरित-काव्य के नामान्तर हो गये हैं। बहुत-से चरितकाव्यों के साथ ‘रासी’ नाम जुड़ा मिलता है, जैसे—रायमलरासी, राणारासी, संगतसिंघरासी, रतनरासी इत्यादि। इसी प्रकार बहुतेरे चरितकाव्यों के साथ ‘विलास’ शब्द जुड़ा हुआ है, जैसे—राजविलास, जगविलास, विजविलास, रतनविलास, अभैविलास, भीमविलास आदि। ‘विलास’ शब्द भी कुछ ऋझा, कुछ खेल आदि की ओर इशारा करता है। इसी प्रकार कुछ काव्यों के नाम के साथ ‘रूपक’ शब्द जुड़ा हुआ है, जैसे—राजारूपक, गोगादेरूपक, रावरिणमलरूपक, गर्जसिंघजीरूपक इत्यादि। स्पष्ट ही रूपक शब्द किसी अभिनेयता की ओर संकेत करता है। ये शब्द केवल इस बात की ओर संकेत करके विरत हो जाते हैं कि ये काव्य-रूप किसी मय गेय और अभिनेय थे। ‘रासक’ का तो इस प्रकार का लक्षण भी मिल जाता है। परन्तु धीरे-धीरे ये भी कथाकाव्य या चरितकाव्य के रूप में ही याद किये जाने लगे। इनका पुराना रूप क्रमणः भुला दिया गया; परन्तु पृथ्वीराज के काल में यह रूप सम्पूर्ण रूप से भुलाये नहीं गये थे। इसीलिए पृथ्वीराजरासों में कथा-काव्यों के भी लक्षण मिल जाते हैं और रासकरूप के भी कुछ चिह्न प्राप्त हो जाते हैं।

हमने ऊपर कथा के जिन सामान्य लक्षणों का उल्लेख किया है, वे गद्य, पद्य सबमें ही मिलते हैं। इसलिए, यह अनुमान किया जा सकता है कि विद्यापति ने अपनी कहानी का ढाँचा उन दिनों अत्यधिक प्रचलित चरितकाव्यों के आदर्श पर ही बनाया होगा। कीर्तिलता की कहानी भूंग और भूंगी के संवादरूप में कहलवाई गई है। प्रत्येक पल्लव के आरम्भ में भूंगी भूंग से प्रश्न करती है और फिर भूंग कहानी शुरू करता है। रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक और शुकी के संवाद की ऐसी ही योजना रही होगी। मेरा अनुमान है कि इस मामूली-से इंगित को पकड़कर हम मूल रासो के कुछ रूप का अन्दराजा लगा सकते हैं। इतने दिनों की ऐतिहासिक कचकचाहट से इतना तो निश्चिंत हो ही गया है कि परवर्ती काल में बहुत अधिक

प्रथेप हुआ है। यदि हम इस संकेत से रासो के मूल रूप का कुछ आभास पा सकें तो यह मामूली लाभ नहीं होगा। इतनी देर तक इसी लाभ की आशा से मैं आपको साहित्यिक इतिहास के खँडहरों में भटकाता रहा। देखा जाय।

शुरू में (प्रथम समय, छन्द ग्यारह और आगे) चन्द की स्त्री शंका करती है। यह बात एकाएक आ जाती है, इसके पहले चन्द की स्त्री का कहीं उल्लेख नहीं है। ग्यारहवें छन्द के पहले कवि ने विनयवश कह दिया है कि वह अपने पूर्ववर्ती महाकवियों का उच्चिष्ठ कथन कर रहा है। यहाँ पर चन्द की स्त्री शंका करती है कि यह कैसे हो सकता है? प्रसंग से जान पड़ता है कि कथा चन्द और उसकी पत्नी के संवादरूप में चल रही है। इसके पहले उसका कोई आभास नहीं है, फिर काफी दूर जाकर प्रश्नोत्तर का क्रम फिर शुरू होता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है, कि रात्रि के समय रस में आकर कविपत्नी ने पृथ्वीराज की कीर्ति-कथा आदि से अन्त तक वर्णन करने का अनुरोध किया। बहुत-कुछ यह 'लीलावती' के कवि कौतूहल की पत्नी के समान ही है। लगता है कि इस गाथा को ग्रन्थ के शुरू में आना चाहिए था। गाथा इस प्रकार है—

समयं इक निसि चंदं । वाम वत्त बद्धि रस पाई ॥

दिल्ली ईस गुनेयं । कित्ति कहो आदि अंताई ॥

फिर अचानक पाँचवें समय में संवाद कवि और कविपत्नी के बीच न होकर शुक और शुकी के बीच चलने लगता है। शुकी कह उठती है कि हे शुक, संभलो। हे प्राणपति, वताओ कि भोला भीमंग के साथ पृथ्वीराज का वैर कैसे हुआ?—

सुकी कहै सुक सभरौ कहौ कथा पतिप्रान ।

पृथु भोरा भीमंग पहु, किय हुग्र वैर वितान ॥

यहाँ अचानक ही शुक का आ जाना विचित्र-सा लगता है। फिर कवि और कविपत्नी कभी नहीं आते। रासोसार के लेखकों ने शुक को कवि चन्द और शुकी को उसकी पत्नी मान लिया। पता नहीं, किस प्रकार यह बात उनके मन में आई है। शायद उनके पास कोई ऐसी परम्परा का प्रमाण हो। ग्रन्थ से यह नहीं पता चलता कि शुक कवि चन्द है और शुकी कविपत्नी। मुझे तो यह भी सन्देह होने लगा है कि 'समयं इक निसि चंदं'-वाली गाथा कुछ विकृत रूप में आई है और इसी गाथा में शुक और शुकी की चर्चा होनी चाहिए। जो हो, उसके आगे के दोहे में स्पष्ट है कि वार्तालाप कवि और उसकी पत्नी में चल रहा है। इसलिए, इस अनुमान को दूर तक घसीटना अच्छा नहीं जान पड़ता। अस्तु।

इसके बाद वारहवें समय में पहले एक छन्द में तिथि-वार वता लेने के बाद शुकी इंछिनी के विवाह के विषय में प्रश्न करती है—

जंपि सुको सुक पेम करि आदि अन्त जो वत्त ।

इंछिनि पिथ्थह व्याहबिधि सुष्पष सुनंते गत ॥

वैसे तो रासो में पृथ्वीराज के नी विवाहों का उल्लेख है, पर तीन विवाह ऐसे हैं, जिन्हें कवि ने विशेष रस लेकर लिखा है। ये तीन विवाह हैं—इंछिनि, शशिव्रता और संयोगिता नामक राजकुमारियों के साथ पृथ्वीराज के विवाह। तीनों में ही शुकी ने शुक से प्रश्न

किया है। शेष विवाहों में ऐसी योजना नहीं मिलती। रासो के अन्तिम अंश से स्पष्ट है कि इंछिनी और संयोगिता ही मुख्य रानियाँ हैं और अन्त तक इर्धा और प्रतिस्पर्द्धा का दृन्द्र इन्हीं में चलता है। सो, प्रमुख विवाहों में एक इंछिनी का विवाह है और इस प्रसंग में शुकी का मिलना काफी संकेतपूर्ण है। इंछिनी के विवाह का प्रसंग उत्थापित हुआ है कि तेरहवें समय में अचानक शहाबुद्दीन गोरी के साथ लड़ाई हो जाती है। इस प्रकार, हर मौके-न्यौके शहाबुद्दीन प्रायः ही रासो में आ धमकता है। यह सत्य है कि ऐतिहासिक कहानी के लेखक के लिये कथा का मोड़ अपने वश की बात नहीं होती; किन्तु प्रसंग का उत्थापन-अवस्थापन तो उसके वश की बात होती ही है। यहाँ कवि लाचार मालूम देता है। शहाबुद्दीन उसकी गैरजानकारी में आ गया जान पड़ता है। मजेदार बात यह है कि तेरहवाँ समय, जो 'कवि चन्द-विरचित प्रथिराज रास के सलष जुद्ध पातिसाह ग्रहन नाम त्योदश प्रस्ताव' है, शुक-शुकी के इस संवाद से अन्त होता है—

सुकी सरस सुक उच्चरिय प्रेम सहित आनन्द।

चालुककांसोज्ज्ञति संध्यौ सारुण्डे में चन्द ॥ (दूहा-सं० १५६)

अर्थात्, वस्तुतः चालुक्यराज भोरा भीमंग के हराने का प्रसंग ही चल रहा था कि बीच में शहाबुद्दीन का 'अपटीक्षेपेण' प्रवेश विशेष ध्यान देने योग्य व्यापार नहीं है, और सच पूछिए तो मैं यह बात आपसे छिपाना नहीं चाहता कि यह बात मेरे मन में समाई हुई है कि चन्द का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी-संवाद के रूप में लिखा गया था। और, जितना अंश इस संवाद के रूप में है, उतना ही वास्तविक है। विद्यापति की कीर्तिलता के समान रासो में प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में—और कदाचित् अन्त में भी शुक और शुकी की बातचीत उसमें अवश्य रही होगी।

चौदहवाँ समय इस प्रकार शुरू होता है—

कहै सुकी सुक संभलौ। नींद न आवे मोहि।

रय निरवांनिय चंद करि। कथ इक पूछों तोहि ॥

सुकी सरिस सुक उच्चर्यो। धर्यो नारि सिर चित्त।

सयन संयोगिय संमरै। मन में मंडप हित॥

घन लड़वौ चालुक संध्यौ। वन्ध्यो सेत षुरसां।

इंछनि व्याही इच्छ करि। कहो सुनहि दे कान॥

और फिर, इंछिनी-विवाह का कवि ने जमके वर्णन किया है। इससे कुछ अधिक जमके संयोगिता का विवाह-वर्णन किया है और इससे कुछ कम जमके शशिन्रता का। चौदहवें समय में बीच में फिर एक बार शुकी शुक से इंछिनी के नख-शिख का वर्णन पूछती है। ऐसा लगता है कि यहाँ से कोई नया अध्याय शुरू होना चाहिए। पर हुआ नहीं है। प्रसंग तो इंछिनी-विवाह है ही। प्रश्न इस प्रकार है—

बहुरि सुकी सुक साँ कहै, अंग अंग दुति देह।

इंछनि इंछ बखानि कै मोह सुनावहु एह॥

प्रायः नई कथा शुरू करने या पुरानी कथा के समाप्त करने के समय शुकी द्वारा शुक के संभलने और सो न जाने के लिए सावधान करने की बात आ जाती है। कभी-कभी किसी समय के बीच में अचानक इस संभलने की हिदायत मिल जाती है और पाठक को यह अनुमान करने का अवसर मिलता है कि मूल रासो में उस स्थल पर से कथा का कोई नया अध्याय शुरू हुआ होगा। कभी-कभी ऐसा ही लगता है कि इसके पहले वाला अंश प्रक्षिप्त है। उदाहरणार्थं, पचीसवें समय में राजा के शिकार आदि के ऐसे प्रसंग हैं, जो सुकविजनोचित कम हैं और भट्टभजन्त अधिक। पृथ्वीराज शूकर का पता वतानेवाले एक वधिक के साथ अकेले ही चल पड़ते हैं, सरदार लोग भी अनुगमन करते हैं, अचानक शुकी शुक से पूछ बैठती है कि पृथ्वीराज के गन्धवं-विवाह की कहानी सुनाओ—

पुच्छ कथा सुक कहो । समह गंध्रवी सुप्रेमहि ॥
 स्ववन मंमि संजोगि । राज समघरी सुनेमही ॥
 । इम चितिय मन ममिङ ॥
 कै करो पति जुगनि ईसह ईस । पुज्जे सुजगमीसह ॥
 शक चिति वाल अति लघु सुनत । ततविन विस उपजै तिहि ॥
 देव सभा न जद्दुव नृपति । नालकेर दुज अनुसरही ॥६८॥
 —पचीसवाँ समय

और फिर, एकाएक शशिव्रता के गन्धवं-विवाह की कहानी शुरू हो जाती है, और शुरू भी ऐसी होती है कि समाँ वैध जाता है। कम प्रसंगों में रासोकार का कवि-तत्त्व इतना मुख्य हुआ होगा। निश्चय ही यह चन्द-जैसे कवि के योग्य रचना है।

मुझे ठीक नहीं मालूम कि किस आधार पर 'रासोसार' के लेखक ने शुकी का अर्थ कवि-पत्नी कर लिया है। शायद शुरू में कवि और कविपत्नी का संवाद देखकर और वाद में समूचे ग्रन्थ में शुक और शुकी का प्रसंग पढ़कर उन्होंने अनुमान कर लिया हो कि शुक और शुकी कोई और नहीं, कवि चन्द और उनकी पत्नी हैं। बीच-बीच में शुक और शुकी के स्थान पर 'दुज औ दुजी' (द्विज - पक्षी) का नाम आ जाता है और उसपर से भी यह भ्रम हो जाता है कि यहाँ किसी ब्राह्मण और ब्राह्मणी का उल्लेख है या उन्हें फिर कोई और परम्परा हाथ लगी हो। पर मेरी धारणा यही है कि शुक-शुकी का ही रासोकार ने दुज-दुजी कहकर उल्लेख किया है। रासो में इन वातों के अन्तरंग प्रमाण उपस्थित हैं। शीघ्र ही हम इसकी चर्चा करने का अवसर पायेंगे।

पचीसवें समय के वाद बहुत दूर तक शुक और शुकी का पता नहीं चलता। तौतीसवें समय में वे फिर द्विज और द्विजी के रूप में आते हैं—

दुज सम दुजी जु उच्चरिय, ससि निसि उज्ज्वल देख ।

किम तूंग्र पाहार पहु गहिय सु असुर नरेस ॥

यदि मेरा यह अनुमान ठीक हो कि शुक-शुकी के संवाद के रूप में ही रासो लिखा गया था, तो कहा जा सकता है कि मूल रासो में शहादुदीन के आने का यह प्रथम अवसर है।

दीर्घ व्यवधान के बाद पैंतालीसबंह समय में फिर शुक-शुकी-संवाद बीच में उपस्थित हो आता है। शुक-शुकी का प्रसंग आने के पहले यहाँ अप्रासंगिक रूप से रामायण की कथा आ गई थी। चौवन छन्दों के बाद पचपनवाँ छन्द इस प्रकार है—

सुकी सुनै सुक उच्चरै । पुब्ब संजोय प्रताप ।
जिहि छर अच्छर मुनी छव्यो । जिन त्रिय भयो सराप ॥५५॥

—पैंतालीसबंह समय

यहाँ से संयोगिता की कहानी शुरू होती है। कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है कि कोई मंजुषोषा, जिसे बाद में चलकर रम्भा कहा गया है, इन्द्र की आज्ञा से ऋषि को छलने गई थी, और ऋषि के पिता द्वारा अभिशप्त होकर मर्त्यलोक में संयोगिता के रूप में अवतीर्ण हुई थी। यहाँ से संयोगिता के स्वयंवर, विवाह और हरण की कहानी दूर तक चली जाती है। बीच-बीच में लड़ाइयाँ भी टपक पड़ती हैं, परन्तु प्रेम-व्यापार ठीक ही चलता रहता है। प्रक्षिप्त अंश इस कथा में भी बहुत है। सुमन्त मुनि जब अप्सरा पर आकृष्ट होकर उसपर अपना सब जप-तप निछावर करने पर उत्तरू हो जाते हैं, तब अप्सरा तुलसीदासबाली की पत्नी की भाँति कह उठती है, कि मुझसे नहीं, भगवान् से प्रेम करो। सगुण भक्ति की प्रशंसा भी करती है। सुनते ही लगता है, कि यह प्रसंग तुलसीदासबाली कहानी से प्रभावित होकर लिखा जा रहा है। पैंतालीसबंह समय के एक सी अड़तालीसबंह दोहे में तो 'मैं विन प्रीति न होइ' आता है, जो लगभग इसी प्रकार की तुलसी की रामायण की याद दिलाये विना नहीं रहता। यह प्रसंग सावधान करता है कि शुक-शुकी का नाम देखकर ही सब वातों को ज्यों-का-त्यों पुराना नहीं मान लिया जा सकता। फिर भी, संयोगिता की कहानी निःसन्देह प्राचीन है।

छियालीसबंह समय में विनयमंगल है। इस विनयमंगल के बीच शुक-शुकी फिर आ जाते हैं—

निकट सुकी सुक उच्चरय । कर अवलम्बित डार ॥
मवरिय अंब सु अंब लगि । सुनत सु मारनि मार ॥७४॥
विनय साल सुक सुकनि दिपि । सर संभरिय अपार ॥
मानो मदन सुमत्त की । विधि संयोगि सु सार ॥७५॥

—छियालीसबंह समय

विनयमंगल में संयोगिता को वधू-धर्म की शिक्षा दी गई है, और विनय की मर्यादा बताई गई है। इस समय में 'इति विनयकाण्ड समाप्त' लिखने के बाद दुज दुजी का संवाद और स्थलों की अपेक्षा जरा विस्तार के साथ आया है। दुज दुजी को सँभलने के लिए कहता है, और यहाँ से वे कहानी के श्रोता और वक्ता नहीं रह जाते, वल्कि पद्मावत के शुक की भाँति स्वयं कहानी के पात्र बन जाते हैं और संयोगिता और पृथ्वीराज के प्रेम-घटक के रूप में उपस्थित हो जाते हैं। पहले तो 'शुक नर भेष धरि साकार' पृथ्वीराज के पास जाता है। उधर दुजी भी उड़कर संयोगिता के पास जाती है।

स्पष्ट ही यहाँ दुज और दुजी पक्षी हैं, 'ब्राह्मण और ब्राह्मणी नहीं। 'द्विज चले उड़ि कनवज्ज दिसी' आदि पंक्तियों में इसकी स्पष्ट छवि है। यह सेतालीसवें समय की कथा है।

सम्भवतः, यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की कथा रुद्रट और हेमचन्द्र के बताये लक्षणों से बहुत दूर नहीं पड़ेगी। साहित्यिक दृष्टि में भी यह अंश बहुत उपादेय हुआ है। शुक-शुकी के संवादरूप में कथा कहने की योजना तत्काल प्रचलित नियमों के अनुकूल तो थी ही, इसलिए भी आवश्यक थी कि उसमें चन्द कवि स्वयं एक पात्र है। किसी दूसरे के मुख से ही अपने बारे में कुछ कहलवाना कवि को उचित नहीं लगा होगा। इस प्रकार सब दृष्टियों से ऊपर बताये हुए प्रसंग रासो के मूल रूप होंगे। अब संझेप में उनकी साहित्यिक दृष्टि से परीक्षा कर लेनी चाहिए। क्योंकि, कथा की परीक्षा इतिहास की दृष्टि से नहीं, काव्य की दृष्टि से होनी चाहिए। पुरानी कथाएँ काव्य ही अधिक हैं, इतिहास वे एकदम नहीं हैं। ऐतिहासिक काव्यों के बारे में हम अगले व्याख्यान में कुछ विस्तार से कहने का अवसर पायेंगे। यहाँ संस्कृत की कथाजातीय पुस्तकों को एक क्षण के लिये देख लेना आवश्यक जान पड़ता है।

आलंकारिक ग्रन्थों के कथा-आख्यायिका के लक्षण ब्राह्मण रूप की ओर ही इंगित करते हैं। उनका कथा की वक्तव्य वस्तु से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। परवर्ती गद्य-काव्यों में नाना भाँति के अलंकारों से अलंकृत करके सुलिलित गद्य लिखना ही लेखक का प्रधान उद्देश्य हो गया था। इन काव्यों में कवि को कहानी कहने की जल्दी नहीं जान पड़ती। वह रूपक, दीपक और श्लेष आदि की योजना को ही अपना प्रधान कर्तव्य मान लेता है। सुवन्धु-ने तो यह प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि अपने ग्रन्थ में आदि से अन्त तक श्लेष का निर्वाह करेंगे। इन कथाकारों के मुकुटमणि वाणभट्ट ने कथा की प्रशंसा करते हुए मानों अपनी ही रचना के लिये कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालाप और भावों से नितान्त मनोहरा तथा अनुरागवश स्वयमेव शश्या पर उपस्थित अभिनवा वधू की तरह सुगम, कला-विद्या-सम्बन्धी वाक्य-विद्यास के कारण सुश्राव्य और रस के अनुकरण के कारण विना प्रयास समझ में आनेवाले शब्दगुम्फवाली कथा किसके हृदय में कौतुकयुक्त प्रेम उत्पन्न नहीं करती? सहजवोध्य दीपक और उपमा अलंकार से सम्पन्न अपूर्व पदार्थ के समावेश से विरचित; अनवरत श्लेषालंकार से किंचित् दुर्वोध्य कथाकाव्य उज्ज्वल प्रदीप के समान उपादेय चम्पक की कली से गुणे हुए और वीच-वीच में चमेली के पुष्प से अलंकृत वनसंनिविष्ट मोहनमला की भाँति किसे आकृष्ट नहीं करता? —

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।

रसेन शश्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥

हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिता कथा ।

निरन्तरश्लेषघना सुजातयो महासजश्चम्पककुड्मलैरिव ॥

—कादम्बरी

अर्थात्, संस्कृत के आलंकारिक जिस रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, जो अंगी है, वही कथा और आख्यायिका का भी प्राण है। कथा-काव्य में कहानी या आख्यान गौण है,

अलंकार-योजना गौण है, पदसंघटना भी गौण है, मुख्य है केवल 'रस'। यह रस अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, शब्द से वह अप्रकाश्य है। उसे केवल व्यंजित या ध्वनित किया जा सकता है। इस बात में काव्य और कथा-आख्यायिका समान हैं। विशेषता यह है कि कथा-आख्यायिका में रस के अनुकूल कहानी, अलंकार-योजना और पद-संघटना सभी महत्वपूर्ण हैं, किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक पद्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही गद्य-कवि की जिम्मेवारी बढ़ जाती है। वह अलंकारों की और पदसंघटना की उपेक्षा नहीं कर सकता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही है। कहानी के रस को अनुकूल रखकर इन शर्तों का पालन सचमुच ही कठिन है, और इसलिए संस्कृत के आलोचक ने गद्य को कवित्व की कस्टी कहा है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' किन्तु, अपध्रंश और प्राकृत की कथाओं में पद का बन्धन भी लगा हुआ है। अपध्रंश में भी अलंकार कथा का बहुत महत्वपूर्ण उपादान समझा जाता रहा है। 'णायकुमारचरित्' में एक संकेतपूर्ण वाक्य आया है। सौत के कुचक्क से राजा ने नागकुमार की माता के सब अलंकार उत्तरवा लिये थे। जब नागकुमार लौटा, तब उसने अपनी माता को ऐसा निरलंकार देखा, मानों कुकवि की लिखी कथा हो। इससे जान पड़ता है, कि अलंकार का अभाव कथा को फीका कर देता है।

कथा-साहित्य में असज्जन पुरुषों की चर्चा थोड़ी-बहुत अवश्य आ जाती है। लक्षण-ग्रन्थों में इसे आवश्यक भी मान लिया गया है। सम्भवतः, उन दिनों के चुगुलखोरों को जवाब देने का यही उपाय रहा हो। तुलसीदासजी ने भी जब इस प्रकार के प्रसंग को भुलाया नहीं है तो दरबारी निन्दकों से कुछ अधिक गम्भीर बात होनी चाहिए। वस्तुतः, जैसा कि वाणभट्ट कह गये हैं, अकारण ही वैर को आविष्कार करनेवाले असज्जनों से सभी डरा करते हैं। कौन ऐसा है जो उनसे न डरता हो? उनका पर्षप वचन कालसर्प के दुःसह विष की भाँति सदा उनके मुँह में सहज भाव से ही विद्यमान रहता है। शायद वाणभट्ट की बात किसी युग-विशेष तक ही सीमित नहीं है, वह आज भी सत्य है और सौ-दो सौ वर्ष बाद भी सत्य रहेगी। शायद सहृदय जनों के लिये भी चुपके-से एकाध वाक्य कहकर मनोव्यथा हल्की कर लेने के सिवा अन्य उपाय न था, न है, न रहेगा। वाणभट्ट के शब्द इस प्रकार हैं—

अकारणाविष्कृतवैरदारुणा—

असज्जनात्कस्य भयं न विद्यते ।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचो

सुदुःसहं सन्धिहितं सदा मुखे ॥

सो, कथा में अलंकार और रस की योजना के साथ खल-निन्दा को भी आवश्यक माना जाने लगा था।

पृथ्वीराजरासो ऐसी ही रसमय सालंकार युद्धवद कथा था, जिसका मुख्य विषय नायक की प्रेमलीला, कन्याहरण और शत्रुपराजय था। इन्हीं, बातों का मूल रासो में विस्तार रहा होगा। ऊपर जिन अंशों को रासो का पुराना रूप कहा गया है, उनमें इन्हीं बातों का विस्तार है। यह कहना तो कठिन है कि इससे अधिक उसमें कुछ था ही नहीं;

पर जहाँ तक अनुमान-शक्ति के उपयोग का अवसर है, वहाँ तक लगता है कि रासो ऐसी ही कथा थी। ऐसी कथाएँ उन दिनों और भी बहुत-सी लिखी गई थीं। कुछ का आभास संस्कृत-प्राकृत के विजय, विलास, रासक आदि की श्रेणी के काव्यों से लगता है और कुछ का उस समय की लिखी हुई नाटिकाओं, सट्टकों, प्रकरणों, शिलालेख-प्रशस्तियों आदि से मिलता है। संस्कृत में इतिहास का कुछ पता बता देनेवाले काव्य तो मिलते हैं; पर उन्हें 'ऐतिहासिक' काव्य नहीं कहा जा सकता। सब जगह इतिहास-प्रथित तथ्यों पर कल्पना द्वारा उद्भावित घटनाएँ प्रधान हो उठती हैं। मैं आगेवाले व्याख्यान में थोड़ा-सा इन ऐतिहासिक कहे जानेवाले काव्यों पर विचार करूँगा और फिर रासो के इस नवोद्घाटित मूल रूप के काव्य-सौन्दर्य पर विचार करूँगा।

मुझे खेद है कि रासो का प्रसंग कुछ अधिक बढ़ाने को वाध्य हो रहा है, पर सब दृष्टियों से यह इतना महत्वपूर्ण ग्रन्थ है कि थोड़ा और विचार कर लेना बहुत अनुचित नहीं होगा।



चतुर्थ व्याख्यान

हमारे आलोच्य काल में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम से सम्बद्ध कई काव्य, नाटक और चम्पू आदि मिले हैं। पृथ्वीराजरासो के बारे में हम कह आये हैं कि ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम से जुड़े रहने के कारण शुरू-शुरू में अनुमान किया गया था कि इससे इतिहास का काम निकलेगा। पर यह आशा फलवती नहीं हुई। कम ही ऐतिहासिक पुरुषों के नाम से सम्बद्ध पुस्तकों इतिहास-निर्माण में सहायता कर सकी हैं। कुछ से ऐतिहासिक तथ्यों, नामों और वंशावलियों का कुछ सन्धान मिल जाता है। कुछ से इतना भी नहीं मिलता।

बहुत पहले से तो नहीं, पर पृथ्वीराज से आविर्भाव के काफी पहले से ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध काव्य-पुस्तकों लिखी जाने लगी थीं। शिलालेखों और ताम्रपट्ट की प्रशस्तियों में तो ऐसी वात बहुत पुराने जमाने से मिलती है, पर पुस्तक-रूप में समसामयिक राजाओं के नाम से सम्बद्ध रचना सातवीं शताब्दी से पहले की नहीं मिली। वाद की शताब्दियों में यह वात बहुत लोकप्रिय हो जाती है और नवीं-दसवीं शताब्दी में तो संस्कृत-प्राकृत में ऐसी रचनाएँ काफी बड़ी संख्या में मिलने लगती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय साहित्य में यह प्रवृत्ति नहीं है। सातवीं शताब्दी के वाद भारतीय जीवन और साहित्य में अनेक नये उपादान आये हैं। ऐतिहासिक काव्य भी उनमें एक है। सम्भवतः, तत्काल प्रचलित देश्यभाषा या अपभ्रंश में ऐसी रचनाएँ अधिक हुई थीं। इस काल के संस्कृत-साहित्य में राजस्तुति का बहुत प्रमुख स्थान है। अपभ्रंश की रचनाओं में ऐसी राजस्तुति-परक रचनाओं का होना स्वाभाविक ही था। कई नवागत जातियों ने, जिनमें आभीर, गूजर और अनेक राजपूत समझी जानेवाली जातियाँ भी हैं, राज्य-अधिकार किया था। वे जिन प्रदेशों से आये थे, वहाँ की अनेक रीति-नीति भी साथ ले आये थे। फिर, वे संस्कृत उतनी अच्छी तरह समझ नहीं पाते थे, यथापि अपने क्षत्रियत्व का दावा उच्च स्वर से घोषित करने के लिए वे पण्डितों का सम्मान भी करते थे और साधारण जनता से अपने को श्रेष्ठ बताने के जितने प्रयत्न सम्भव थे, सभी करते थे। इन उपायों में देशी भाषा की उपेक्षा भी एक था। फिर भी, सचाई यह है कि वे अपभ्रंश में लिखी स्तुतियाँ ही समझ सकते थे। इसलिए, अपभ्रंश में तेजी से राजस्तुतिपरक साहित्य की परम्परा स्थापित होने लगी। संस्कृत में भी यह वात थी, पर संस्कृत में और भी सौ वातें थीं।

हृष्णचरित समसामयिक राजा के नाम के साथ सम्बद्ध प्रथम काव्य है। यद्यपि वह कवि के आश्रयदाता का जीवनचरित है, पर इसमें इतिहास की अपेक्षा काव्य ही प्रधान हो उठा है। हृष्ण के जीवन का पूरा चित्र तो इसमें मिलता ही नहीं, उसके राजनीतिक कार्यों और योजनाओं का भी कोई स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। यह भी पता लगाना कठिन ही है कि सम्राट् के सम्पर्क में आनेवाले लोगों की क्या स्थिति थी। और तो और, गौड़ और मालवराज-जैसे महत्वपूर्ण पात्र भी अस्पष्ट ही रह गये हैं, अन्य साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या है। सब मिलाकर हृष्णचरित में ऐतिहासिक तथ्य नाममात्र को ही है। प्रधानतः वह गद्यकाव्य है। उसकी शैली वही है, अन्तरात्मा वही है, और स्थापन-पद्धति भी वही है। इतिहास-लेखक उससे लाभान्वित हो सकता है; क्योंकि हृष्ण के सभा-मण्डप का, ठाट-बाट का, रहन-सहन का, उससे परिचय मिल जाता है, पर उसे सावधान रहना पड़ता है। कौन जाने, कवि कल्पना के प्रवाह में उपमा, रूपक, दीपक या श्लेष की उमंग में तथ्य को कितना बढ़ा रहा है, कितना आच्छादित कर रहा है, कितना दूसरे रंग में रंग रहा है। इस कवि के लिये कल्पना की दुनिया वास्तविक दुनिया से अधिक सत्य है। और, वास्तविक जगत् की कोई घटना सिफे उसकी कल्पनावृत्ति को उकसाने का सहारा भर है। इस प्रकार इतिहास इसकी दृष्टि में गौण है। वह केवल कल्पना-वृत्ति को उकसाने के लिये और मनोहरतर जगत् के निर्माण के लिये सहायक मात्र है। विवाह के समय स्त्रीयाँ नाचती-गाती थीं, यह ऐतिहासिक तथ्य है। कवि के लिये इतना संकेत काफी है। फिर, वह कल्पना का जाल विद्धा देगा। 'स्थान-स्थान पर्य-विलासिनियों के नृत्य-आयोजन को वह इस रूप में चित्रित करेगा, जिससे पाठक का चित्त मदविह्वल हो जाय। मन्द-मन्द भाव से आस्फाल्यगान आर्लिंग्यक नामक वाद्य मुखर हो उठेगे, गधुर शिजनकारी मंजुल वेणुनिनाद से दिढ़मण्डल झनझना उठेगा, झनझनाती हुई झल्लरी के साथ कलकांस्य और कोशी के व्यवण अपूर्व ध्वनिजाल उत्पन्न करेंगे, उत्ताल ताल से दिढ़मण्डल चटचटा उठेगा, निरन्तर ताड़मान तन्ज्ञी-पट्टह की गुंजार से और मृदु-मधुर झंकार के साथ झंकृत अलार्व-बीणा की मनोहर ध्वनि से नृत्य वाचाल हो उठेगा और आप इस अपूर्व मायालोक में देखेंगे कि सुन्दरियों के कानों में अद्भुतुसुलभ पुष्प नृत्य के आधूर्णन-वेग से दोलायित हो रहे हैं और कुंकुम-गौर-कान्ति नृत्यचारियों के वेग के साथ सौन्दर्य-चक्रवाल की सृष्टि कर रही है और वाणभट्ट के मुख से आप उस शोभा और श्री की अपूर्व सम्पत्ति को सुनकर चकित रह जायेंगे। आपको मालूम होगा कि वे किशोरियाँ नृत्य के नाना करणों में जब भुजलताओं को आकाश में उत्क्षिप्त करती थीं, तो ऐसा लगता था कि उनके कंकण सूर्यमण्डल को बन्दी बना लेंगे, उनकी कनक-मेखला से उलझी हुई कुरण्टक-माला उनके मध्य-देश को धेरकर ऐसी शोभित हो रही थी, मानों कामानि ही प्रदीप्त होकर उनको बलियत किये हैं, उनके प्रदीप्त मुखमण्डल से सिन्दूर और अवीर की छटा विच्छुरित हो जाती थी और उस लाल-लाल कान्ति से अरुणायित कुण्डलपत्र इस प्रकार सुशोभित हुआ करते थे, मानों चन्दन-न्द्रुम की सुकुमार लताओं के विलुलित किसलय हों। उनके नीले वासन्ती चित्रक और कोसुम्भ वस्त्रों के उत्तरीय जब नृत्य-वेग से आधूर्णित हो उठते थे तो मालूम पड़ता था कि

विक्षुब्ध शृंगार-सागर की चटुल वीचियाँ तरंगित हो उठी हैं। वे मद को भी मदमत्त बना देती थीं, आनन्द को भी आनन्दित कर देती थीं, नृत्य को भी नचा देती थीं और उत्सव को भी उत्सुक बना देती थीं।' हर्षचरित के चतुर्थ उच्छ्वास में एक ऐसा ही मनोरम वर्णन है। मैं उसका अनुवाद नहीं दे रहा हूँ, केवल उसकी वक्तव्य वस्तु और स्थापन-पद्धति की ओर इशारा करने के लिये थोड़ी-सी बानगी दे रहा हूँ। इस प्रकार का कोई अवसर मिला नहीं कि कवि की कल्पना उत्तेजित हुई नहीं। फिर कहाँ गया इतिहास और कहाँ गई तथ्यों की वह दुनिया, जो बार-बार ठोकर मारकर कवि-कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान में बाधा पहुँचाती रहती है। कोई आश्चर्य नहीं कि बाण के समान कल्पकवि ने जिस काव्यरूप को छू दिया, वह वहीं अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर समाप्त हो गया। किसकी हिम्मत है कि फिर से उस काव्यरूप को छूकर उसी गरिमा तक पहुँचा सके। यदि आगे चलकर किसी ने हिम्मत की भी तो वह रसिकों का हृदय नहीं जीत सका। बाणभट्ट ने कथा और आद्यायिका की गद्यवाली शैली को अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँचाकर छोड़ दिया। कोशिश करनेवालों ने कोशिश की अवश्य, 'पर न हुआ मीर का इकवाल नसीब। जौक यारों ने बड़ा जोर गजल में मारा।'

फिर तो गद्य को छोड़ ही दिया गया। लिया भी गया तो पद्धवहुल करके। आगे चलकर चम्पुओं की शैली अधिक लोकप्रिय हो गई। पद्यों में संस्कृत-भाषा मैंज गई थी, उसका सहारा लेकर कुछ कहना सम्भव था; पर गद्य को तो बाणभट्ट ने जिस कँचाई पर उठा दिया, उस तक पहुँचना असम्भव हो गया।

प्रकृत प्रसंग ऐतिहासिक काव्यों का है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा बाद में खूब चली। इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ, उत्तर-पश्चिम सीमान्त से वहुत-सी जातियों का प्रवेश होता रहा। वे राज्य-स्थापन करने में भी समर्थ हुईं। पता नहीं कि उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश में चलीं। साहित्य में नये-नये काव्यरूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सम्भवतः, ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने की चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परन्तु, भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम-भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही, जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर कम; कल्पना-विलास का अधिक मान था, तथ्य-निरूपण का कम; सम्भावनाओं की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम; उल्लिखित आनन्द की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथों परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिये गये हैं। राजा का विवाह, शत्रुघ्निय, जलऋड़ा, शैल-वन-विहार; दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति—ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं, क्रमशः इतिहास का अंश कम होता गया और सम्भावनाओं का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते हैं, युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि सुभ्रावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे, यह तथ्य अनेक विवाहों की

सम्भावना उत्पन्न करता है, जलत्रीड़ा और वनविहार की सम्भावना की ओर संकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पंख खोल देने का अवसर देता है। उत्तरकाल के ऐतिहासिक काव्यों में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान् के लिये संगति मिलाना कठिन हो जाता है।

वस्तुतः:, इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। वरावर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है; जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजन्धरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है; जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रत्नसेन, और रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्ति-भाण्डार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रंगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं। फिर भी, निजन्धरी कथाओं से वे इस अर्थ में भिन्न थीं कि उनमें वाह्य तथ्यात्मक जगत् से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था। कभी-कभी मात्रा में भी कमी-बेशी तो हुआ करती थी, पर योग रहता अवश्य था। निजन्धरी कथाएँ अपने-आपमें ही परिपूर्ण होती थीं।

जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों में ऐसी घटनाओं को नहीं आने देता, जो दुःख-परक विरोधों को उकसावें, उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानकों में भी करता है। **सिद्धान्ततः:**, काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता, जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दुःखोद्वेचक विषम परिस्थितियों—ट्रेजिक कण्ट्रेडिक्शन्स—की सृष्टि करे; परन्तु वास्तव जीवन में ऐसी बातें होती ही रहती हैं। इसलिये, इतिहासाश्रित काव्य में भी ऐसी बातें आयेगी ही। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नाटक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गई है; परन्तु वास्तविक जीवन के कर्तव्य, द्वन्द्व, आत्मविरोध और आत्मप्रतिरोध-जैसी बातें उसमें नहीं आ पातीं। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नहीं आ पाता और कथानायक कल्पित पात्र की कोटि में आ जाता है। फिर, जीवन में कभी हास्पोद्वेचक अनमिल स्वर भी मिल जाते हैं। संकृत-काव्य का कर्त्ता कुछ अधिक गम्भीर रहने में विश्वास करता है और ऐसे प्रसंगों को छोड़ जाता है। और, ऐसे प्रसंगों को तो वह भरसक नहीं आने देना चाहता, जहाँ कथानायक के नंतिक पतन की सूचना मिलने की आशंका हो। यदि ऐसे प्रसंगों की वह अवतारणा भी करता है तो घटनाओं और परिस्थितियों का ऐसा जाल तानता है, जिसमें नायक का कर्तव्य उचित रूप में प्रतिभात हो। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजन्धरी कथानकों पर आश्रित काव्य से

बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते हैं, पर इतिहास को नहीं पा सकते। इतिहास, जो जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन-कथा होता है, जो काल-प्रवाह से नित्य उद्धाटित होते रहनेवाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चिन्न उपस्थित करता है, और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होनेवाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्धाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजन्धरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस काव्य के लिये वह कुछ ऐसी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग करता है, जो कथानक को अभिलिपित ढंग से मोड़ देने के लिये दीर्घकाल से भारतवर्ष की निजन्धरी कथाओं में स्वीकृत होते आये हैं और कुछ ऐसे विश्वासों का आश्रय लेता है, जो इस देश के पुराणों में और लोक-कथाओं में दीर्घकाल से चले आ रहे हैं। इन कथानक-रूढ़ियों से काव्य में सरसता आती है और घटना-प्रवाह में लोच आ जाती है। मध्यकाल में ये कथानक-रूढ़ियाँ बहुत लोकप्रिय हो गई थीं और हमारे आलोच्य काल में भी इनका प्रभाव बहुत व्यापक रहा है।

संस्कृत में ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध काव्यों को 'चरित', 'विलास', 'विजय' आदि नाम दिये गये हैं। सबसे पुराना काव्य तो, जैसा कि पहले ही बताया गया है, 'हर्षचरित' नामक आख्यायिका ही है। इसके बाद पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित' (१००० ई० के आसपास) और विल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित' नाम के ऐतिहासिक काव्य मिलते हैं। ये दोनों काव्य हमारे आलोच्य काल के आरम्भ के हैं और ऐतिहासिक काव्यों की तत्कालीन परिस्थिति को बताते हैं। विक्रमांकदेवचरित राजकीय विवाहों और युद्धों का काव्य है। राजाओं के गुणानुवाद के लिये उन दिनों ये ही दो विषय उपयुक्त समझे जाने लगे थे। दोनों में ही कल्पना का प्रचुर अवकाश रहता था और सम्भावनाओं की पूरी गुंजायश रहती थी। यह वस्तुतः, इन स्तुतिमूलक कल्पनाप्रवण काव्यों में इतिहास का केवल सुदूरस्पर्श-मात्र ही है। इतिहास की दृष्टि से कुछ अधिक उपादेय पुस्तक कल्हण की 'राजतरंगिणी' है; लेकिन उसमें भी पौराणिक विश्वासों और निजन्धरी कथाओं की कल्पना का गड्डमड्ड थोड़ा-बहुत मिल ही जाता है। तन्न-मन्न, शकुन-अपशकुन के विश्वासों का सहारा भी लिया ही गया है। और, प्राचीन गौरव की अनुभूति के कारण घटनाओं में असन्तुलित गुरुत्वारोप हो ही गया है। मानव-कृत्य को अतिप्राकृत घटनाओं द्वारा नियन्त्रित समझने के विश्वास ने इस अपूर्व इतिहास-ग्रन्थ को थोड़ा-सा इतिहास के आसन से दूर खड़ा अवश्य कर दिया है; पर सब मिलाकर 'राजतरंगिणी' ऐतिहासिक काव्य है। सन्ध्याकरनन्दी का 'रामचरित' एक ही साथ अयोध्याधिपति श्रीरामचन्द्र का भी अर्थ देता है और बंगाल के रामपाल पर भी घटित होता है। इस प्रकार के कठिन ब्रत को निर्वाह करनेवाले शिल्पित काव्य से इतिहास की जितनी आशा की जा सकती है, उतनी इससे भी की जा सकती है। यहाँ कवि को रामपाल के जीवन की वास्तविक घटनाओं से कम और श्लेष-निवाह से अधिक मतलब है। 'सोमपालविलास' जल्हण का लिखा ऐतिहासिक काव्य है। 'जयानक' का

लिखा कहा जानेवाला 'पृथ्वीराजविजय' हिन्दीभाषियों के निकट परिचित ही है। इसी पुस्तक की हस्तलिपि के प्राप्त होने से पृथ्वीराजरासो का ऐतिहासिक माहात्म्य धूमिल पढ़ गया था और बंगाल की एसियाटिक सोसायटी से प्रकाशित होना बीच ही में बन्द हो गया था। इस पुस्तक के बारे में हम आगे विशेष भाव से चर्चा करेंगे। एक और ऐतिहासिक पुस्तक अनन्तपुत्र रुद्र-लिखित 'राष्ट्रीय-वंश' बताई जाती है। इन सब पुस्तकों के बारे में एक ही बात सत्य है। इतिहास इनमें कल्पना के आगे म्लान हो गया है और ऐतिहासिक, पौराणिक और निजन्धरी घटनाओं के विचित्र और असन्तुलित मिश्रण से इनका ऐतिहासिक रूप एकदम गौण हो गया है। जैन कवि हेमचन्द्राचार्य का लिखा 'कुमारपालचरित' चरित या द्व्याश्रय काव्य है, जिसके प्रथम बीस सर्ग संस्कृत में हैं और परवर्ती आठ अध्याय प्राकृत में। इस काव्य में कुमारपाल के पूर्वपुरुषों का वृत्तान्त भी है। अनहिलवाड़े के इन चौलुक्यों के बारे में जो कुछ लिखा गया है, वह इतिहास-सम्मत माना जाता है। परन्तु, हेमचन्द्राचार्य की मुख्य दृष्टि व्याकरण के प्रयोगों को समझाना है। बाद के आठ सर्ग प्राकृत में कुमारपाल के वर्णन में हैं। गुजरात के चौलुक्यों के इतिहास की दृष्टि से पुस्तक बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार, सोमेश्वर की 'कीर्तिकीमुदी' और 'सुरथोत्सव', वालचन्द्र सूरि का 'वसन्तविलास' और जयचन्द्र सूरि का 'हमीरकाव्य' ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेख्योग्य हैं। अन्तिम पुस्तक में ऋष्टु-वर्णन और विहार-वर्णन बहुत सुन्दर है।

इन ऐतिहासिक काव्यों में 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता समसामयिक राजा की कीर्ति गाने के उद्देश्य से ही लिखी गई है और कवि-जनोचित अलंकृत भाषा में रची गई है तथापि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या सम्भावनाओं के द्वारा धूमिल नहीं हो गया है। कीर्तिसिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है। कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नहीं है, जो छाया और आलोक के सामंजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाती है; बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है, जो मूर्तियों के भित्तिगात्र में उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति के ऊँचाई-निचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं। उस काल के मुसलमानों का, हिन्दुओं का, सामन्तों का, शहरों का, लड़ाइयों का, सेना के सिपाहियों का इतना जीवन्त और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने, जो भी सामने आ गया उसका व्यैरेवार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नहीं किया है; बल्कि आवश्यकतानुसार, निर्वचन, चयन और समंजस योजना के द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार, यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित होकर भी केवल तथ्यनिरूपक पुस्तक नहीं बना है; बल्कि सचमुच का काव्य बना है। बहुत कम स्थलों पर कवि ने केवल सम्भावनाओं को बृहदाकार बनाया है। कीर्तिसिंह का वीररूप भी स्पष्ट हो जाता है और जीनपुर के मुलतान फिरोजशाह के सामने उसका अतिनम्र भक्तिमान् रूप भी प्रकट हुआ है। इन चित्रणों में कवि ने कीर्तिसिंह के द्वितीय रूप को दबाने का, उज्ज्वलतर रूप में चित्रित करने का प्रयास नहीं किया; बल्कि ऐतिहासिक तथ्य को इस भाँति रखने का प्रयत्न किया है कि जिस स्थान पर कथानायक झुकता है, वहाँ भी वह पाठक की सहानुभूति और परिशंसन का पात्र बना रहता है। छन्दों के चुनाव में भी कवि ने

कुशलता का परिचय दिया है। तथ्यात्मक विवरण को मोड़ने के साथ-ही-साथ वह छन्दों को बदल देता है और पाठक के चित्त में उत्पन्न हो सकनेवाली एक धृष्टता या मोनोटानी को कम कर देता है। सब मिलाकर कीर्तिलता अपने समय का बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित करती है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवन्त रूप है। उसमें न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा; उसमें यथास्थान पाठक के चित्त में करुणा, सहानुभूति, हास्य, औत्सुक्य और उत्कण्ठा जाग्रत् करने के विचित्र गुण हैं। इस पुस्तक में उन कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग बहुत कम किया गया है, जो संस्कृत, प्राकृत और अपध्रंश की रचनाओं में एक ही प्रकार के अभिप्राय ला देती हैं और तथ्यात्मक जगत् से कम सम्बन्ध रखकर कल्पना-विलास की ओर पाठक का मन मोड़ दिया करती हैं।

पृथ्वीराजरासो और पद्मावत भी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ सम्बद्ध काव्य है। परन्तु, अन्यान्य ऐतिहासिक काव्यों की भाँति मूलतः इनमें भी ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं का मिश्रण रहा होगा। जैसा कि शुरू में ही इशारा किया गया है, ऐतिहासिक चरित का लेखक सम्भावनाओं पर अधिक बल देता है। सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और धुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गये हैं। इस विषय में ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं में विशेष भेद नहीं किया गया। केवल ऐसी वात का ध्यान रखा गया है कि सम्भावना क्या है। चित्तोर के राजा से सिंघल देश की राजपुत्री का विवाह हुआ था या नहीं, इस ऐतिहासिक तथ्य से कुछ लेना-देना नहीं है; हुआ हो तो बहुत अच्छी वात है, न हुआ हो तो होने की सम्भावना तो है ही। राजा से राजकुमारी का विवाह नहीं होगा तो किससे होगा? शुक नामक पक्षी थोड़ा-बहुत मानव-वाणी का अनुकरण कर लेता है, और भी तो कर सकता था। जितनी शक्ति उसे प्राप्त है उससे अधिक की सम्भावना तो है ही। ऋषि के वरदान से वह शक्ति बढ़ सकती है, ऋषि के शाप से पतित गन्धर्व यदि सुखा हो गया हो तो पुनर्जन्म के संस्कार उसको कलामर्ज्ज बना सकते हैं। जब ये सम्भावनाएँ हैं तो क्यों न उसे सकलशास्त्र-विचक्षण सिद्ध कर दिया जाय। इस प्रकार सम्भावना-पक्ष पर जोर देने के कारण बहुत-सी कथानक-रूढ़ियाँ इस देश में चल पड़ी हैं। कुछ रूढ़ियाँ ये हैं—

१. कहानी कहनेवाला सुगा,
२. (क) स्वप्न में प्रिय का दर्शन पाकर आसक्त होना,
- (ख) चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना,
- (ग) भिक्षुकों या बन्दियों के मुख से कीर्ति-वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना इत्यादि।
३. मुनि का शाप,
४. रूप-परिवर्त्तन,
५. लिंग-परिवर्त्तन,
६. परकाय-प्रवेश,

७. आकाशवाणी,
८. अभिज्ञान या सहिदानी,
९. परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या और रानी की वहन के रूप में अभिज्ञान,
१०. नायक का औदार्य,
११. पड़ छतु और वारहमासा के माध्यम से विरह-वेदना,
१२. हंस, कपोत आदि से सन्देश भेजना,
१३. घोड़े का आखेट के समय निजन वन में पहुँच जाना, मार्ग भूलना, मानसरोवर पर किसी सुन्दरी स्त्री या उसकी पूर्ति का दिखाई देना, फिर प्रेम और प्रयत्न,
१४. विजन वन में सुन्दरियों से साक्षात्कार,
१५. युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से, या कापालिक की बलिवेदी से सुन्दरी स्त्री का उद्धार और प्रेम,
१६. गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता द्वारा तिरस्कार,
१७. भारुण और गरुड़ आदि के द्वारा प्रिय-युगलों का स्थानान्तर-करण,
१८. पिपासा और जल की खोज में जाते समय असुर-दर्शन और प्रिया-वियोग,
१९. ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड़ हो गया हो, नायक का हाथी आदि द्वारा जयमाला पाना,
२०. प्रिय की दोहदामना की पूर्ति के लिए प्रिय का असाध्यसाधन का संकल्प,
२१. शत्रु-सन्तापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना, और फलस्वरूप युद्ध इत्यादि।

भारतीय साहित्य के विद्यार्थियों को प्रायः ऐसी कथानक-रूढ़ियों में टकराना पड़ता है। मैंने केवल इशारे के लिए कुछ रूढ़ियों के नाम गिनाये हैं। मेरा उद्देश्य केवल इस बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना है। पदावत में इन रूढ़ियों का व्यवहार है, और रासो में तो प्रेम-सम्बन्धी सभी रूढ़ियों का मानों योजनापूर्वक समावेश किया गया है। जो वात मूल लेखक से छूट गई थी उसे प्रक्षेप करके पूरा कर लिया गया है। मैं यहाँ सभी रूढ़ियों के सम्बन्ध में चर्चा नहीं करूँगा, करने का समय नहीं है; परन्तु कुछ थोड़ी-सी रूढ़ियों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। भारतीय साहित्य की कथानक-रूढ़ियों के विषय में ब्लूमफील्ड ने अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी के जनंल की छत्तीसवीं, चालीसवीं, एकतालीसवीं जिल्डों में कई लेख लिखे हैं और पेंजर ने कथासरित्सागर के नये संस्करण में अनेक महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी हैं। इस विषय पर अन्य कई यूरोपियन पण्डितों ने भी विशेषभाव से परिश्रम किया है, जिनमें डबल्यू० नामन ब्राउन का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि वेनिफी नामक जर्मन पण्डित की कृतियाँ बहुत पुरानी हो गई हैं तथापि वे इस विषय के जिज्ञासुओं के काम की चीज़ हैं। साधारणतः इन पण्डितों ने निजन्धरी कहानियों के अभिप्रायों के विषय में ही काम किया है; परन्तु उस अध्ययन का उपयोग परवर्ती ऐतिहासिक कथाओं के क्षेत्र में भी उपयोगी है। अस्तु, यहाँ दो-चार रूढ़ियों के बारे में ही कुछ कहने की इच्छा है।

सबसे पहले शुकवाली कथानक-रुद्धि को लिया जाय।

शुक और सारिका—तोता और मैना—भारतीय परिवार के बहुत पुराने साथी हैं। कथाओं में इनसे तीन काम लिये गये हैं—(१) कथा के कहनेवाले श्रोता के रूप में, (२) कथा की गति को अग्रसर करनेवाले सन्देशवाहक या प्रेम-सम्बन्ध-घटक के रूप में और (३) कथा के रहस्यों को खोलनेवाले अनपराद्ध भेदिया के रूप में। अन्तिम रूप में सारिका अधिक उपयोगी समझी गई है। वाणभट्ट की कादम्बरी शुक-मुख से कहलवाई गई है और रासो की पूरी कहानी शुक और शुकी—तोता-मैना—के संवादरूप में कहलवाई गई है। मैने पिछले व्याख्यान में बताया है कि यह शुक-शुकीवाला संवाद काफी महत्त्वपूर्ण है और इसके द्वारा हम कथासूत्रों की योजना करके रासों के मूलरूप को पहचान सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि शुक की कथा कहने की शक्तिवाली बात ऋमणः हमारे देश के साहित्य में विशाल रूप ग्रहण करती गई है। शुरू-शुरू में वह काफी सहज-सरल थी। अमरुक के शतक में एक बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक श्लोक आया है—दम्पति ने रात भर प्रेमालाप किया, कम्बख्त शुक सब सुनता रहा। प्रातःकाल सास-जिठानी के सामने ही उसने उन वाक्यों को दुहराना शुरू किया। वधू हैरान। उसे तुरन्त एक युक्ति सूझ गई। कान के कर्णफूल में पद्मरागमणि का टुकड़ा था। उसे लेकर उसने शुक के सामने रखा और उस वाचाल मूर्ख ने उसे दाढ़िम-फल समझकर चोंच मारी। वचन उसका बन्द हुआ और लज्जाविह्वला नववधू ने शान्ति की साँस ली—

दम्पत्योर्निशि जत्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचः
तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधूः ।
कर्णालिम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्चाः पुरो
व्रीडात्ता प्रकरोति दाढ़िमफलव्याजेन वाग्वन्धनम् ॥—अ० श०, १६ ।

यहाँ तक तो चल सकता है। परन्तु, जब शुक को सकलशास्त्रार्थ का वेत्ता कहा जाता है तो सम्भावना को जहरत से ज्यादा घसीटा जाता है। श्रीहर्षदेव की रत्नावली में नायिका के गोपन प्रेम का रहस्य सारिका खोलती है। उस मुखरा ने नायिका को सखी से कुछ कहते सुन लिया था और उसी का जप शुरू कर दिया था। संयोगवश राजा और विदूषक को यह बात सुनने को मिल गई और कथा के प्रेमव्यापार में गर्मी आ गई। राजा ने ठीक ही कहा था कि प्रिया ने अपनी सखी से जो प्रणय-कथा सुनाई हो उसे शिशु शुक और सारिका के मुख से सुनने का अवसर बढ़ा भागियों को ही मिलता है—

दुर्वारां मदनव्यथां वहन्त्या कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।
तद्भूयः शुकशिशुसारिकाभिश्कतं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥

शुक का दूसरा रूप है कथा को गति देनेवाला महत्त्वपूर्ण पात्र। पद्मावत में वह सही काम करता है और रासो के दो प्रसंगों में उसे यही काम करना पड़ा है। प्रथम प्रसंग है समुद्रशिखरगढ़ की राजकन्या पद्मावती के साथ पृथ्वीराज के विवाह का सम्बन्ध-स्थापन और दूसरा है इंद्रिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता के समय इंद्रिनी की वियोग-विमुरा

अंवस्था की सूचना देकर राजा को बड़ी रानी (इंदिरी) की ओर उम्मुख करना। दोनों ही स्थानों पर सुग्रे ने महत्वपूर्ण कर्म किया है। इनमें पहला तो उस अत्यधिक प्रचलित लोककथानक का स्मारक है जिसका उपयोग जायसी ने भी किया था। इस कथानक में इतिहास खोजने के लिये मूँड मारना वेकार है। यह अत्यन्त प्रचलित लोककथा थी। इसे अमुक पुराण से अमुक ने चुराया है, कहकर पौराणिक कथा मानना भी उचित नहीं है। यह दीर्घकाल से प्रचलित भारतीय कथानक-रूढ़ि है। दो या तीन स्थानों पर ही इसका उपयोग नहीं हुआ है, कई स्थानों पर हुआ है। तीसरा भी चिर-प्रचलित कथानक-रूढ़ि है और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की लोककथाओं में आज भी खोजा जा सकता है।

पद्मावतीवाली कहानी पर थोड़ा और भी विचार करना है।

भारतीय साहित्य में सिंहलदेश की राजकन्या से विवाह के अनेक प्रसंगों की चर्चा आती है। साधारणतः उनमें परिचारिका से प्रेम और वाद में परिचारिका का रानी की वहन के रूप में अभिज्ञान—इस कथानक की रूढ़ि का ही आश्रय लिया जाता है। श्रीहर्षदेव की रत्नावली में इसी रूढ़ि का ही आश्रय लिया गया है। कौटूहल की 'लीलावती' में भी नायिका सिंहलदेश की राजकन्या ही है, और जायसी के पद्मावत में भी वह सिंहलदेश की ही कन्या है। इन सभी स्थानों पर सिंहल को समुद्र-मध्य-स्थित कोई द्वीप माना गया है। अपर्जन्श की कथाओं में भी इस सिंहलदेश का समुद्र-स्थित होना पाया जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सिंहलदेश की कन्याएँ पद्मिनी जाति की सुलक्षणा होती हैं। जायसी के पद्मावत तक के काल में सिंहल के समुद्र-स्थित होने की चर्चा आती है। परन्तु, वाद में रिहलदेश के सम्बन्ध में कुछ गोलमाल हुआ जान पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वे किसी स्त्री-देश में विलासिता में फँस गये थे, और उनके सुयोग्य शिष्य गोरक्षनाथ ने वहाँ से उनका उद्धार किया था। 'योगिसम्प्रदायाविष्टुति' नामक एक परवर्ती ग्रन्थ में सिंहल को 'त्रिया-देश' अर्थात् 'स्त्री-देश' कहा गया है। भारतवर्ष में 'स्त्री-देश' नामक एक स्त्री-देश की ख्याति बहुत प्राचीन काल से है। इसी देश को 'कदली-देश' और वाद की पुस्तकों में 'कजरीवन' कहा गया है। मैंने अपनी पुस्तक 'नाथ-सम्प्रदाय' में इस स्त्री-देश और कजरीवन के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। यहाँ प्रासंगिक सिफ़ इतना ही है, कि परवर्ती काल की नाथ-अनुश्रुतियों में सिंहलदेश, त्रिया-देश और कजरीवन को एक दूसरे से उलझा दिया गया है। पद्मावत के समय में भी सिंहलदेश दक्षिण में समझा जाता था। परन्तु कुछ वाद चलकर 'त्रिया-देश' और 'कजरीवन' के साथ उलझा देने के कारण उसे उत्तर में समझा जाने लगा। यह विश्वास किया जाता था कि सिंहल में पद्मिनी नारियाँ हुआ करती थीं, जिनके शरीर से पद्म की सुगन्ध निकलती रहती है, और जो उत्तम जाति की स्त्री मानी जाती हैं। रासों में पद्मावती के विवाहवाला अध्याय इसी परवर्ती काल की विचारणत उलझन की सूचना देता है। कहानी उसमें वही है, जो पद्मावत में है। परन्तु वहाँ पद्मावती उत्तरदेश की राजकन्या बताई गई है। पुरानी कहानी की स्मृति इसके कुछ शब्दों में जी रही है। जैसे, यह तो नहीं कहा गया कि पद्मावती सिंहलदेश की राजकन्या थी। परन्तु उसके नाम 'समुद्रशिखर'

यह सूचित करता है कि उस देश का सम्बन्ध किसी समय समुद्र से था। फिर भी उसका राजा विजयसिंह सिंहल के प्रथम राजा विजयसिंह से मिलता-जुलता है, जादूकुल में सम्भवतः यातुधानकुल की यादगार चौड़ी हुई है—

उत्तर दिसि गढ़ गढ़नपति समद शिषर इक दुग्ग ।
वहं सुविजय सुरराजपति जादूकुलह अभग्ग ॥

इस प्रकार यह कहानी सोलहवीं शताब्दी के बाद की लिखी हुई है, और रासों में प्रक्षिप्त हुई है। यह ध्यान देने की बात है, कि जिन विवाहों के सम्बन्धों में शुक और शुकी का संवाद मिलता है, उनसे यह भिन्न है, और यह भी ध्यान देने की बात है कि वीकानेर की फोटं लाइब्रेरी में रासों की जो छोटी प्रति सुरक्षित बताई जाती है उसमें भी यह कहानी नहीं है। कथानक-रूढ़ियों का विचार किये विना जो लोग रासों या पद्मावत की ऐतिहासिकता या अनैतिहासिकता की जाँच करने लगते हैं, वे भ्रान्त मार्ग का अनुसरण करते हैं। पचावती की कहानी इस बात की स्पष्ट सूचना देती है।

शुक और शुकी के वार्तालापरूप में प्रथम विवाह इंछिनी का है। दूसरा विवाह शशित्रता का और तीसरा संयोगिता का है। तीनों विवाह सरस बने हैं और सुकविरचित जान पड़ते हैं।

इंछिनी के विवाह के प्रसंग में तीन घटनाएँ उल्लेखयोग्य हैं जो शुक-शुकी के प्रश्नोत्तर के रूप में आई हैं। पहली बात है भीम भोरंग के साथ पृथ्वीराज के वैर का कारण। भीम के सात चचेरे भाई, जो उसके राज्य में उपद्रव मचाने लगे थे, भीम के प्रताप से भयभीत होकर पृथ्वीराज की शरण आये, पर पृथ्वीराज के एक प्रिय सामन्त कन्ह से उनकी लड़ाई हो गई और वे मारे गये। इसपर भीमराव असन्तुष्ट हुआ। दूसरी बात है भीम का इंछिनी से विवाह की इच्छा। इंछिनी की बड़ी वहन मन्दोदरी से उसका विवाह पहले ही हो चुका था। छोटी वहन को बड़ी पत्नी की सौत के रूप में पाने का प्रयत्न अच्छा नहीं था। सलप अपनी छोटी लड़की को और उसका पुत्र जैत अपनी वहन को, इस प्रकार व्याहने के विरुद्ध थे। उन्होंने भीम से रक्षा पाने के उद्देश्य से ही पृथ्वीराज की शरण ली। लड़ाइयाँ हुईं—रासों में होती ही रहती हैं—शाहबुदीन भी भीम के कहने से, किन्तु भीम को वरवाद कर देने की इच्छा के साथ चढ़ आया—वह भी रासों में जव-तब आ ही धमकता है—और इंछिनी से पृथ्वीराज का विवाह हुआ। आगे तीसरी घटना है बारात का वर्णन और इंछिनी का नख-सिख ('नख-सिख')-वर्णन। इस विवाह में कवि ने किसी प्रकार की कथानक-रूढ़ि का आश्रय नहीं लिया है फिर भी और विवाहों से यह विशिष्ट है। इसमें इंछिनी का सौन्दर्य बहुत ही सुन्दर रूप में निखरकर प्रकट हुआ है, जो प्रधानतः कवि-समय के अनुसार ही है—

नयन सुकज्जल रेष तष्ठि निष्ठ्वल छवि कारिय ।
श्रवनन सहज कटाछ चित्त कर्षन नर नारिय ।
भुज मृनाल कर कमल उरज अंबुज कलिय कल ।
जंघ रंभ कटि सिंधगमन दुति हंस करी छल ।

देव ग्रु जप्ति नागिनि नरिय गरहि गर्व दिष्टत नयन ।

इंछिनी अंखि लज्जा सहज कितक शक्ति कविय वयन । (१४-१५६)

सो, यह विवाह झगड़ों और लड़ाइयों के बावजूद सहज विवाह है। इसके पहले और बाद में पटापट दो विवाह और हुए हैं; पर उनमें कवि का मन रमा नहीं है। स्पष्ट ही लगता है कि वे मूल रासों के विवाह नहीं हैं। इंछिनी का विवाह ही शायद मूल रासों का प्रथम विवाह है। वाकी दो विवाहों का वैशिष्ट्य दिखाने के लिये ही कवि ने इस सहज विवाह की पृष्ठभूमि तैयार की है। इस सहज विवाह की सहज शोभा का कवि ने बार-बार उल्लेख किया है—

घन धुमि धुम्मर हेम । कवि कहो ओपम एम ॥
 मनों कमल सौरभ काज । प्रति प्रीत भमर विराज ॥
 कह कही अंग सुरंग । रति भूलि देखि अनंग ॥
 लषि लच्छि पूर सहज । चित्त वृत्त मानों रज्ज ॥
 सो सलष राजकुंवारि । नृप लही ब्रह्म संवारि ॥
 इन लच्छि इंछनिय रूप । कुल वध लछिछन रूप ॥
 रति रूप रमनिय रज्जि । छवि सरस छुति तन सज्जि ॥
 रसि रसित रङ्गह राज । तिह रमन हुअ प्रथिराज ॥

अगले विवाह में कवि ने जमके कथानक-रूढ़ियों का सहारा लिया है। राजा का नट के मुख से यादवराज-कन्या शशिन्रता के रूप की प्रशंसा मुनना और आसक्त होना, यह जानना कि उज्जैन के कामध्वज राजा को सगाई भेजी गई है, पर कन्या उसे नहीं चाहती, कन्या-प्राप्ति के लिये शिव-पूजन और शिवजी का स्वप्न में मनोरथ-सिद्धि के लिये वरदान—ये पुरुष-राग की चिराचरित भारतीय कथानक-रूढ़ियाँ हैं। कवि ने इन्हें निपुणता के साथ उपस्थित किया है। फिर पृथ्वीराज भिन्न-भिन्न ऋतुओं में मन्मथ-पीड़ा से व्याकुल होता है—यहाँ भी वही बात है। कवि ने इस बहाने बड़ा ही सुन्दर कृतु-वर्णन किया है—

मोर सोर चहुं ओर घटा आसाढ़ बंधि नभ ।
 बच दादुर ज़िंगुरन रट्त चातिग रंजत सुभ ।
 नील बरन वसुमतिय पहिर आञ्चन अर्लकिय ।
 चंद वधू सिव्यंद घरे वसुमतिसु रज्जिय ।
 बरषंत वूंद घन मेघसर तव सुभौग जह्व कुंअरि ।
 नन हंस धीर धीरज सुतन इष फुट्टे मन मत्थ करि ॥ (२५-६५)

और फिर,

घन घटा बंधि तम मेघ छाय । दामिनिय दमकि जामिनिय जाय ॥
 बालंत मोर गिरवर सुहाय । चातिग रट्त चिहुं ओर छाय ॥ इत्यादि ।

यह विरह-वर्णन-साधारणतः वाहा वस्तु-प्रधान है। विरह में जिस प्रकार का हृदय-रग-चित्रण होना चाहिए था वैसा इसमें नहीं है। अस्तु।

जिस प्रकार नैषधचरित के नल की भाँति नटमुख से प्रिया के गुण सुनकर पृथ्वीराज व्याकुल हो उठा, उसी प्रकार एक हंस की भी कल्पना की गई है। यहाँ आकर मालूम हुआ कि सगाई जयचन्द्र के भतीजे वीरचन्द्र से होने जा रही थी। किसी गन्धर्व ने यह बात सुन ली और वह हंस बनकर शशिव्रता के पास पहुँचा। नैषध के हंस की भाँति यह भी सोने का ही था। शशिव्रता के पूर्वजन्म में चित्ररेखा नामक अप्सरा होने की बात हंस ने उसे बताई। अप्सरा का सुन्दरी कन्या के रूप में अवतार पृथ्वीराजरासो का प्रिय विषय है। संयोगिता भी अप्सरा का ही अवतार थी। 'पृथ्वीराजविजय' के अन्त में कहानी आई है कि पृथ्वीराज अपनी चित्रशाला में अप्सरा का चित्र देखकर मुग्ध हुए थे। कथा का झुकाव जिस प्रकार का है उससे पता चलता है कि वह अप्सरा किसी-न-किसी रूप में पृथ्वीराज को मिली होगी। दुर्भाग्यवश वह काव्य आधा ही प्राप्त हुआ है और यह नहीं पता चला कि वह अप्सरा पृथ्वीराज को किस रूप में मिली। पर जान पड़ता है कि अप्सरावाले विश्वास का पृथ्वीराज के वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध है। जो हो, गन्धर्व (हंस) शशिव्रता को पृथ्वीराज की ओर उन्मुख करता है। वीरचन्द्र तो अभी साल भर का बच्चा था। अप्सरावतार युवती शशिव्रता को उससे विमुख करने में हंस का विशेष धम नहीं पड़ा। शशिव्रता के मन में प्रेमांकुर उत्पन्न करके वह दिल्ली गया। यही उचित था। यही स्वाभाविक भी। पृथ्वीराज ने उसे पकड़ा। नल ने भी ऐसा ही किया था। प्रेम गढ़ होता है, पृथ्वीराज की ओर से और शशिव्रता की ओर से भी। हंस ने भी शशिव्रता का रूप-गुण-वर्णन किया, चित्ररेखा का अवतार होना बताया और एक नई बात यह बताई कि शशिव्रता ने गान सिखानेवाली अपनी शिक्षिती चन्द्रिका से पृथ्वीराज का गुण सुनकर आकृष्ट हुई है। पृथ्वीराज भी नट से सुनके आकृष्ट हुआ था, शशिव्रता भी गायिका के मुख से सुनकर आकृष्ट हुई थी—दोनों ओर गुण-श्रवण-जन्य आकर्षण है। यह भी भारतीय कथानक-रुद्धि है, पर कहानी नैषधचरित के समानान्तर हो गई है। पृथ्वीराज के प्रेम की समानान्तर दूसरी घटना है शशिव्रता का भी शिव-पूजन। हंस संकेत करता है कि रुक्मिणी को जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने हरा, उसी प्रकार तुम हरो। कन्याहरण का यह 'अभिप्राय' भी बहुत पुराना है। रासो में पद्मावती ने भी पृथ्वीराज को उसी प्रकार बरा था 'ज्यों रुक्मिनी कन्हर-वरिय।' और, संयोगिता को भी लगभग इसी पद्धति से हरा गया था। रासोकार को यह अभिप्राय अत्यन्त प्रिय है।

अब कहानी नल के आदर्श पर नहीं चलकर श्रीकृष्ण के आदर्श पर चलने लगी। परन्तु, शशिव्रता के पिता ने ही पृथ्वीराज को लिखा कि शिवजी की पूजा के लिये शशिव्रता जायगी और वहीं मिलेगी। पूनी की दृढ़ता और व्रत से पिता का हृदय पसीज गया था। मन्दिर में पूजा के बहाने आई हुई कन्या का हरण पुराना भारतीय 'अभिप्राय' है, जो कथानक-रुद्धि के रूप में ही बाद के साहित्य में जम वैठा है। पद्मावत में भी यह 'अभिप्राय' है। पर वहाँ पद्मावती अपने मन में अच्छी तरह जानती हुई जाती है कि वहाँ रत्नसेन आनेवाला है। शशिव्रता को यह नहीं मालूम। जायसी की तुलना में यहाँ

चन्द्र अधिक सफल हैं। रासोकार ने अन्तवृत्तियों के दृढ़ दिखाने में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। रामचरितमानस की सीता को भी गौरी-पूजन के प्रसंग में रामचन्द्रजी का अचानक दर्शन हो गया, पर वहाँ पूर्वराग उस सीमा तक नहीं पहुँचा था जिस सीमा तक शशिव्रता और पृथ्वीराज का पूर्वराग—अवश्य ही साक्षात् दर्शन अब भी बाकी था—पहुँच चुका था। सखी ने शशिव्रता को दिखाया—वह देखो, जिसे चाहती हो वह आ गया ! आँखें चार हुईं और—

कर्नं प्रयंतं कटाछं सुरंगं विराजही
कछु पुच्छ्यन कों जांहि पै पुच्छ्य लाजहीं
नैनं सैनं में वातं स्ववननं सो कहीं
कामं किधीं प्रथिराजं भेदं करि ना लहैं । (४२-२६०)

शशिव्रता मन्दिर की ओर बढ़ी। ५०० सखियाँ उसे धेरे थीं। कान्यकुब्जेश्वर की सेना डटी हुई थी। मन्दिर में फिर पृथ्वीराज की आँखों से आँखें मिलीं। मुकुमार-लज्जाभार-भरिता शशिव्रता की वह शोभा देखने ही लायक थी, पृथ्वीराज ने उसकी बाँह पकड़ी, मानों गजराज ने लहराकर आई हुई कांचनलता को पकड़ लिया हो—

चौहानं हृथ्यं बाला गहियं सो ओपमं कवि चंदं कहि ।

मानों की लता कंचनं लहरि मत्तं वीरं गजराजं गहि ॥

यह विल्कुल अप्रत्याशित वात थी। शशिव्रता इसके लिये विल्कुल तैयार नहीं थी। उसकी आँखों में आँसू आ गये। उघर सेनाएँ डटी हुई थीं। एक ही साथ राजा पृथ्वीराज के हृदय में रौद्र, शशिव्रता के मन में करुण, वीरों के मन में सुभट-गतिजन्य उत्साह, सखियों के मन में हास, अरिदल के हृदय में वीभत्स और 'कमधज्ज' के हृदय में भयानक रस का संचार हुआ—

नपं भयौ रुद्धं, करुणा सुन्त्रियं, वीरभोगं वरं सभटं गति ।

संगियनं सुहासं, वीभच्छं रिनं भयं भयानं कमधज्जं द्रुतिं ॥

फिर युद्ध युद्ध युद्ध ! अन्त में शशिव्रता ने प्रस्ताव किया कि दिल्ली चलिये। शशिव्रता यहाँ अत्यन्त कोमल पतिपरायणा स्त्री के रूप में दिखाई पड़ती है। सब मिलाकर यह कथा रासोकार की कवित्वशक्ति का परिचायक है। इसमें उसने प्रेम-कथानकों की अनेक काव्य-रुद्धियों का प्रयोग किया है। उसे सफलता भी मिली है।

संयोगिता का स्वयंवर विशुद्ध कवि-कल्पना है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी प्रामाणिकता पर कई बार सन्देह प्रकट किया गया है। जयचन्द्र की किसी पुत्री से पृथ्वीराज का विवाह हुआ था या नहीं, सन्दिग्ध ही है। कहा जाता है कि ऐतिहासिकता के लिए प्रमाण मानी जानेवाली योग्य प्रशस्तियों में या मुसलमान ऐतिहासिकों के विवरणों में तो इसका कोई उल्लेख है ही नहीं। चौदहवीं-गन्द्रहवीं शताब्दी के जैन प्रबन्धों में भी इसकी चर्चा नहीं है। पृथ्वीराजविजय अधूरा ही मिला है। उसके उपलब्ध अन्तिम हिस्से में चित्रशाला में पृथ्वीराज एक अप्सरा की मूर्ति देखकर प्रेमातुर होता है। यह पता नहीं चलता कि आगे क्या हुआ, पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि किसी ऐसे ही प्रेम-विवाह की

और कवि कथा को ले जाना चाहता है जैसा रासो के कवि ने वर्णन किया है। उन दिनों स्वयंवर-प्रथा वास्तविक जगत् में समाप्त हो गई थी; पर कवियों की कल्पना की दुनिया से ऐसी बात लोग नहीं हुई थी। इस काल के कुछ थोड़ा पहले सन् १९२५ ई० में विल्हण ने विक्रमांकचरित में बहुत टीमटाम के साथ एक स्वयंवर का वर्णन किया है। विल्हण चालुक्य राजा विक्रमादित्य के प्रताप का वर्णन करता है। कर्णाट देश के शिलाहारकुल की राजकन्या चन्द्रलेखा रूप और गुण में इतनी उत्तम और विख्यात थी कि राजतरंगिणी के समान ऐतिहासिक समझे जानेवाले काव्य के लेखक कल्हण ने भी लिखा है कि कश्मीर का राजा हर्ष उसे प्राप्त करने की इच्छा से कर्णाट पर चढ़ाई करने की सोच रहा था। उस राजकन्या का स्वयंवर हुआ और वह सर्वसौन्दर्यनिधि राजकन्या विल्हण के आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य के अतिरिक्त और किसे वरण कर सकती थी? ऐतिहासिक विद्वान् इस घटना को कवि-कल्पना ही मानते हैं। इससे केवल इतना ही सूचित होता है कि कवियों की दुनिया से स्वयंवर-जैसी मनोमोहक प्रथा समाप्त नहीं हुई थी। पृथ्वीराजविजय के लेखक ने भी किसी ऐसे आयोजन की कल्पना की हो तो कुछ आश्चर्य नहीं है। राजतरंगिणी के लेखक ने भी कविजनोचित भाषा में हर्ष के प्रेमोद्रेक का कारण चित्र-दर्शन ही बताया है^१ और पृथ्वीराज-विजय के कवि के मन में भी कुछ ऐसी ही बात है—

हृदये लिखितां पुरः स्थितादपि चित्राद्रुचिरां ददर्श यत् ।

अविदत् परमार्थतस्ततः स मनोराज्यमनोतिशायिनीम् ॥ (१२-२५)

इसलिए घटना ऐतिहासिक हो या न हो, रासो के कवि की कल्पना में इसका आविभवि अवश्य हुआ था। संयोगिता की प्राप्ति ही रासो का चरम उद्देश्य जान पड़ता है। क्षेप इसमें भी है पर कवि ने इसे लिखने में बड़ा मनोयोग दिया है।

इस प्रसंग में कवि को क्रतुवर्णन करने का अच्छा बहाना मिल गया है। बहाना तो खोजना ही पड़ता है। सन्देशासक के कवि ने भी एक सुन्दर बहाना खोजा है। वहाँ विरहिणी का सन्देशा ले जानेवाला पथिक बार-बार जाने को उत्सुक होता है, पर उस विचारी का दुःख देखकर रुक जाता और पूछता है कि तुम्हें और भी कुछ कहना है? कहना तो उसे है ही। प्रसंग बढ़ता जाता है। अन्त में पथिक पूछता है कि कब से तुम्हारा यह हाल है? फिर एक-एक करके क्रतु-वर्णन चलने लगता है। रासो में पृथ्वीराज जयचन्द का यज्ञ विध्वंस करने और संयोगिता को हर लाने की इच्छा से घर से निकलना चाहते हैं। यह कोई नई बात नहीं है। पृथ्वीराज तो बाहर जाते ही रहते हैं, लड़ना तो उनका स्वभाव ही है और कन्याहरण और विवाह भी नया नहीं होने जा रहा है।

१. कर्णाटभृत्यः पमद्रिः सुन्दरी चन्दलाभिधाम् ।

आलेख्यलिखितां वीक्ष्य सोऽभूत् पुष्पायुधाहतः ॥

स विद्रोहेचितो वीतवपश्चक्रे समान्तरे ।

प्रतिज्ञां चन्दलावाप्त्यै पमद्रिश्च विलोडने ॥ —राजतरंगिणी, ७।१९२४ ।

फिर भी कवि यहाँ रुकता है। पृथ्वीराज हर रानी के पास विदा लेने जाते हैं और जिस ऋतु में जाते हैं उसका मनोरम वर्णन सुनके रुक जाते हैं। वसन्त ऋतु में वे इंद्रियों के पास जाते हैं पर अनुमति नहीं मिलती। इंद्रियों उन्हें समझाती है कि इस ऋतु में कोई भला आदमी बाहर जाता है? जब क्षाम बौरा गये हों, कदम्ब फूल चुके हों, रात की दीर्घिता में कोई कमी न आई हो, भौंवरे भावमत्त होकर झूम रहे हों, मकरन्द की झड़ी लगी हुई हो, मन्द-मन्द पवन विरहाग्नि को सुलगाने में लगी हो, कोकिल कूक रहे हों और किसलयरुपी राक्षस प्रीति की आग लगा रहे हों, तब कैसे कोई युवती रमणी अपने प्रिय को बाहर जाने की अनुमति दे सकती है? इंद्रियों ने पैरों पड़के विनय किया कि हे प्राणनाथ, इस ऋतु में बाहर मत जाओ—

मवरी अंब फुल्लिग कदंब रथनी दिघ दीसं ।
 भंवर भाव भल्लै भ्रमंत मकरंद बरीसं ॥
 बहत बात उज्जलति मौर अति विरह अग्निकि य ।
 कुहकुहंत कलकंठ पत्रराषस अति अग्निय ॥
 पथ लग्नि प्रानपति विनवौ नाह नेह मुझ चित वरहु ।
 दिन दिन अवद्धि जुव्वन घटय कंत वसंत न गम करहु ॥

पृथ्वीराज ऐसे दो-चार पथ सुनने के बाद वसन्त भर वहीं रुक गये। फिर ग्रीष्म आया— प्रचण्ड ग्रीष्म। उस समय वे पुण्डीरनी रानी से विदा लेने गये। वही कैसे छोड़तीं? भला, यह भी कोई बाहर जाने का समय है—उत्पत्त वायु वह रही हो, तरुणी का क्षीण शरीर ताप से दग्ध हो रहा हो, चारों दिशाएँ धधक उठी हों, क्षण भर के लिए भी कहीं ठण्ड का अनुभव न होता हो, ज्वलन्त पानी पीने को मिलता हो, खून सूख रहा हो, राह चलना कठिन हो रहा हो, दिन-रात गर्मी की ज्वाला से काया क्लेशापन्न हो उठी हो—इस प्रकार के समय में तो कन्त को कभी बाहर नहीं जाना चाहिए, सम्पत्ति हो या विपत्ति !!—

षोन तरुनि तन तपै वहै नित बाव रथन दिन ।
 दिसि चार्यों पर जलै नहीं कहौं सीत अरघ षिन ॥
 जल जलंत पीवंत रुहिर निसिवासर घट्टै ।
 कठिन पथ काया कलेस दिन रथनि संघट्टै ॥
 त्रिय लहै तत्त अष्वर कहै गुनियन ग्रव्व न मंडियै ।
 सुनि कंत सुमति संपति विपति ग्रीष्म ग्रेह न छंडियै ॥

सो, पृथ्वीराज यहाँ भी एक ऋतु तक रुके रहे। वर्षाकाल में इन्द्रावती से विदा लेने गये। वही कैसे छोड़तीं भला? विशेष करके जब बादल घहरा रहे हों, एक-एक क्षण पहाड़ बने हुए हों, संजल सरोवरों को देखकर सौभाग्यवतियों के हृदय फटे जा रहे हों, बादल जल से सींच-सींचकर प्रेमलता को पलुहा रहे हों, कोकिलों के स्वर के साथ प्रेम के देवता अपना बाण-सन्धान कर रहे हों, दादुर, मोर, दामिनी, चातक, सब-के-सब दुश्मनी पर उतार हो आये हों तो प्रिय को कैसे जाने दिया जा सकता है?—

घन गरजै घरहरै पलक निस रैनि निघट्टै ।
 सजल सरोवर पिष्ठि हियौ ततछन घन फट्टै ॥
 जल बद्ल वरषंत पेम पल्लहौ निरंतर ।
 कोकिल सुर उच्चरै अंग पहरंत पंचसर ॥
 दाढुरह मोर दामिनि दसय अरि चवत्थ चातक रट्य ।
 पावस प्रवेस बालम न चलि विरह अगिनि तन तप घट्य ॥
 धुमड़ि घोर घन गरिजि करत आडंबर अंबर ।
 पूरत जलधर घसत धार पथ पथिक दिगंबर ॥

झज्जकितं द्विग्नि सिमु त्रिग्नि समान दमकत दामिनि द्रसि ।
 विहरत चात्रग चुवत पीय दुष्पन्त समं निसि ॥
 ग्रीषम्म विरह द्रुमलतातन परिरंभन क्रत सेन हरि ।
 सज्जंत काम निसि पंचसर पावस पिय न प्रवास करि ॥

इस ऋतु का वर्णन कवि ने प्राण ढालकर किया है—

द्विग्नि भरित धूमिल जुरति भूमिल कुमुद नृमल सोभिलं ।
 द्रुम अंग वल्लिय सीस हल्लिय कुरलि कंठह कोकिलं ॥
 कुसुमंज कुंज सरीर सुम्मर सलित दुम्मर सद्यं ।
 नद रोर दद्दुर मोर नद्दुर वनसि बद्दरि बद्यं ॥
 झम झमकि विज्जल काम किज्जल श्ववनि सज्जल कद्यं ।
 पप्पीह चीहति जीह जंजरि मोर मंजरि मद्यं ॥
 जगमगति ज़िगन निसि सुरंगन भय अभय निसि हिद्यं ।
 मिति हंस हंसि सुवास सुंदरि उरसि आनन मिद्यं ॥

सो, चन्दवरदाई का यह वर्षा-वर्णन भाषा और भाव—ध्वनि और विम्ब—दोनों ही दृष्टियों से बहुत उत्तम हुआ है। अनुकूल ध्वनियों का ऐसा समंजस विधान है कि देखते ही बनता है। चन्द इस कला में निपुण हैं। वल्कि यह कहता चाहिए कि वे इस कला में जरूरत से ज्यादा महारत हासिल कर चुके हैं। युद्ध के प्रसंगों में तो वे लाठी लेकर शब्दों को पीट-पीटकर इस योग्य बनाते हैं कि वे युद्ध की ध्वनि उत्पन्न कर सकें। यदि किसी का हाथ-पैर टूट जाय तो उन्हें कोई परवाह नहीं। इस ऋतु-वर्णन के प्रसंग में इतनी दूर तक शासन से काम नहीं लेते। योड़ा तो लेते ही हैं। शरद, हेमन्त और शिशिर भी इसी प्रकार एक-एक रानी के पास बीत जाते हैं, पृथ्वीराज का जाना नहीं होता। अन्त में वे चन्द की शरण जाते हैं—

षट रित बारह मास गय फिर श्रायौ रु वसंत ।

सो रित चंद बताऊ मंहि, तिया न भावै कंत ॥

चन्द ने 'ऋतु' शब्द को पकड़ लिया। उसी पर श्लेष करते हुए उत्तर दिया—

रोस भरे उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग ।

उहि रिति त्रिया न भावई, सुनि चुहान चतुरंग ॥

और प्रसंग समाप्त होता है।

यह ऋतुवर्णन मिलनजन्य आनन्द में उदीपना का संचार करता है। शशिव्रता-विवाह के प्रसंग में विरहजन्य दुखबोध को गाढ़ बनाने के लिये ऋतुवर्णन का सहारा लिया गया है। इस काल के कवि अद्वैतानन्द (अद्वृत रहमान) के सन्देशरासक और ढोला-मारू के दोहों में विरहदशा की अनुभूतियों के वर्णन का प्रयत्न है। कुछ थोड़ा परवर्ती काल के कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने विरह-वेदना की अनुभूतियों को दिखाने के उद्देश्य से ऋतुवर्णन लिखा है। सन्देशरासक में कवि ने जिस बाह्य प्रकृति के व्यापारों का वर्णन किया है, वह रासो के समान ही कवि-प्रथा के अनुसार है। उन दिनों ऋतुवर्णन के प्रसंग में वर्ण्य वस्तुओं की सूची बन गई थी। बारहवीं शताब्दी की पुस्तक 'कविकल्पलता' में और चौदहवीं शताब्दी की पुस्तक 'वर्णरत्नाकर' में ये नुस्खे पाये जा सकते हैं। इन बाह्य वस्तु और व्यापारों के आगे न तो रासो का कवि गया है, न अद्वैतानन्द ही। फिर भी जायसी की भाँति अद्वैतानन्द के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्यवस्तु-निरूपक वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर मनुष्य के (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करता है। रासो में यह बात इस मात्रा में नहीं मिलती। सन्देशरासक का कवि बाह्य वस्तुओं की सम्पूर्ण चित्रयोजना इस कौशल से करता है कि उससे विरहिणी के व्यथा-कातर सहानुभूति-सम्पन्न कोमल हृदय की मर्मवेदना ही मुख्य हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है। तुलना के लिये एक वर्षा-वर्णन का प्रसंग ही लिया जाय। विरहकातरा प्रिया किसी पथिक से अपने प्रिय का सन्देश भेजती है। वह मेघों का समय है। दसों दिशाओं में बादल छाये हुए हैं, रह-रहके घहरा उठते हैं, आकाश में विद्युलता चमक रही है, कड़क रही है, दाढ़रों की घवनि चारों ओर व्याप्त हो रही है—धारासार वर्षा एक क्षण के लिये भी नहीं रुकती। इस कविप्रथा-सिद्ध वर्षा का वर्णन करते-करते विरहिणी कातर भाव से कह उठती है—हाय पथिक, पहाड़ की चोटियों पर से उसने (प्रिय ने) यह सब कैसे सहा होगा?—

जंपवि तम वद्विलिण दसह दिसी छायउ अंबरु ।

उन्नवीयउ धुरहुरइं धोर घणु कीसणाडबरु ॥

णहह मणिग णहवल्लीय तरल तडयडिवि तडककइ ।

दद्दुर रउणु रउद्दु सद्दु कुवी सहवि ण सककइ ॥

निबड निरंतर नीरहर दुद्धर धर धारोह भरु ।

कीम सहउ पहिय सिहरटिथयइ दुसहउ कोइल रसह सरु ॥

इससे विरहकातरा प्रिया का अत्यन्त कोमल और प्रीति-प्रायण हृदय ही ध्वनित हुआ है। वाह्य प्रकृति तो उसके सहानुभूतिमय प्रेम-प्रायण हृदय को दिखा देने का साधन भर है। रासो के वर्णनों में यह बात नहीं आने पाई है, फिर भी वे वाह्य प्रकृति के सरस चित्र उपस्थित करते हैं। ध्वनियों और रंगों के सामंजस्य से रासो के चित्र खिल उठे हैं। अस्तु।

सो, इस प्रसंग में कवि ने विरह के समय ऋतुवर्णन की प्रथा को न अपनाकर संयोग-कालीन उदीपक ऋतुवर्णन की पुरानी प्रथा को ही अपनाया है। यद्यपि वर्ण विषयों की योजना में कोई नवीनता नहीं है, वे तत्काल प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही हैं तथापि उनमें अपना सौन्दर्य है। वे पाठकों को आकृष्ट करते हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार राजपूत-चित्र रूढ़िबद्ध होने पर भी दर्शक को विह्वल बनाते हैं। शब्दचयन की अद्भुत शक्ति ने चन्द के काव्य को अपूर्व शोभा प्रदान की है। इन मधुर-मोहन छन्दों को पढ़ने के बाद रासो के अन्य प्रसंगों की ऊवड़-खावड़ वेठौर-ठिकाने की भाषा के विषय में सन्देह होना उचित ही है। कहाँ यह सुन्दर शब्दयोजना, गम्भीर ध्वनिमान्द्र्य और कहाँ द्वित्व और अनुस्वारों के सहारे वेमतलव खड़ी की गई वेतरतीव शब्दों की पलटन। एक बार दिखती है कथाकार की अद्भुत योजनाशक्ति, कथा का धुमाव पहचानने की अपूर्व क्षमता, भावों का उतार-चढ़ाव चित्रित करने की मोहक भंगिमा और फिर दिखता है लड़नेवाले सरदारों की नामावली बताने की आतुरता, हथियारों के लक्षण और हिसाव बताने की उतावली, कवि चन्द की सिद्धियों की महिमा वखानने की उमंग और कथा को वेमतलव बोझिल और लस्टम-पस्टम बनाने की निर्दुद्धिक योजना ! रासो विचित्र मिश्रण है। खैर !

इसके राजा कन्नौज के लिये प्रस्थान करते हैं। कवि को अनेक शकुनों और फलों के वर्णन का अवसर मिलता है। इस काल में शकुन पर पूरा विश्वास किया जाता था और शकुनों का यहाँ विस्तारपूर्ण वर्णन अपेक्षित ही है। बाद में पृथ्वीराज और उनके साथी वेश बदलकर कन्नौज पहुँचते हैं। कन्नौज का सुन्दर वर्णन दिया गया है। और, जयचन्द की दासियों को गंगा में जल भरते देख कवि को नारी-सौन्दर्य के मोहक वर्णन का बहाना मिल जाता है—

द्रिग चंचल चंचल तरुनि, चितवत् चित्त हरंति ।

कंचन कलस झकोरि कैं, सुंदर नीर भरंति ।

इसके बाद दासियों के नख-शिख-सौन्दर्य का वर्णन चिराचरित कविप्रथा के अनुसार होने लगता है। फिर जरा कतराकर कवि कन्नौज नगर की सुन्दरियों की शोभा का भी लगे हाथों उद्धार कर देता है। दासियाँ अभी पानी भर ही रही हैं। उनका धूँघट अचानक जरा सरका और सामने रूप और शोभा के अगाध समुद्र दिल्ली-नरेश दिख गये। सोने का घड़ा हाथ में जो पड़ा था सो पड़ा ही रह गया, धूँघट छूटा सो छूट ही गया, वाम्रोध ही गया, वक्षःस्थल के तटदेश पर पसीना झलक आया, ओठ काँप गये, आँखों में पानी भर आया, जड़िमा और आलस्य के लक्षण जृम्भा और स्वेद प्रकट हो गये, गति शिथिल हो

गई—सात्त्विक विकारों से सप्ताध्वसा वह सुन्दरी भाग गई। भागते-भागते भी पृथ्वीराज को निहारती गई, खाली घड़ा गंगा के तट पर पड़ा रह गया—

दरस त्रियन दिल्ली नृपति सोब्रन घट पर हृष्ण ।
वर धूंघट छुटि पट्ट गौ सटपट परि मनमथ्य ॥
सटपट परि मनमथ्य भेद वच कुचतट स्वेदं ।
उष्ट कंप जल द्रगन लग्नि जंभायत भेदं ॥
सिथिल सुगति लजि भगति गलत पुंडरितन सरसी ॥
निकट निजल घट तज मुहर मुहरं पति दरसी ॥ (६२-३७०)

कवि भावी रोमांस का बीज यहीं वो देता है। इसके बाद नगर का, किले का, सेना का, दरवार का और अन्य बातों का वर्णन करने का बहाना खोज निकालता है। एक बहुत ही मजेदार प्रसंग कवि चन्द का राजा जयचन्द्र के दरवार में जाना है। जयचन्द्र के दरवार में कोई दसोंधी कवि थे। ये सम्भवतः वर्तमान जसोंधी जाति के हैं जो आज भी कड़खे और नाजि कहनेवाले जोगवरों की जाति हैं, या यह भी हो सकता है कि इस नाम का कोई कवि रहा हो और आज के जसोंधी अपने इसी पूर्वपुरुष के नाम पर अपना परिचय दिया करते हैं। दसोंधियों और चन्द के वार्तालाप से चन्द की सर्वज्ञता का परिचय मिलता है। चन्द अदृष्ट बातों का—जिनमें स्वयं राजा जयचन्द्र और उसके दरवार की तात्कालिक अवस्था भी शामिल है—वर्णन सफलतापूर्वक करता है और इस प्रकार कवि चन्द दरवार में प्रवेश करने का अधिकार पाता है। और, जयचन्द्र जब पृथ्वीराज के विषय में प्रश्न करता है तो तुर्की-ब-तुर्की जबाब देता है। इसी प्रसंग में कवि पृथ्वीराज की बीरता के वर्णन का बहाना भी खोज निकालता है। जब जयचन्द्र पूछता है कि क्यों नहीं पृथ्वीराज उसके दरवार में और राजाओं की भाँति आता तो चन्द बताता है कि पृथ्वीराज ने तुम्हारे राज्य की रक्षा की है। शहाबुद्दीन गोरी जब कन्नौज पर आक्रमण करना चाहता था तो पहले तो कुन्दनपुर के पास रायसिंह बघेले ने उसे रोका; परन्तु वह उसे पराजित करके आगे बढ़ा। उस समय पृथ्वीराज नागौर में थे। वे बाज की भाँति शहाबुद्दीन पर झपट पड़े। इसी बहाने कवि विस्तार के साथ इस लड़ाई की चर्चा करता है। स्वयं पृथ्वीराज भी दरवार में चन्द के खवास के रूप में उपस्थित होते हैं और इस प्रकार कवि ने पृथ्वीराज-सम्बन्धी वार्तालाप में स्वयं उसे श्रोता बनाकर एक प्रकार का नाटकीय रस ला दिया है। जयचन्द्र के मन में एकाध बार सन्देह होता है, पर पृथ्वीराज खवास-वेश में दरवार के बाहर आ जाता है। लेकिन अन्त तक यह बात छिपती नहीं। पृथ्वीराज का पड़ाव घेर लिया जाते हैं, युद्ध का नगाड़ा बज उठता है और इसी युद्ध के बीच पृथ्वीराज अकेले कन्नौज की शोभा देखने चल पड़ते हैं। युद्ध का रोर सुनकर कन्नौज की मुन्दरियाँ अटारियों पर आ बैठती हैं। घोर युद्ध होता है और उसी दुर्दृश्य युद्ध की पृष्ठभूमि में कवि ने रोमांस का आयोजन किया है। चन्द की यह अद्भुत घटना-योजना-शक्ति रासों में अन्यत्र कहीं भी प्रकट नहीं हुई। तलवारें चमक रही थीं, घोड़े और हाथियों की सेना में जुकाम बाजे बज रहे थे, बीरदर्पं से कन्नौज मुखरित हो उठा था और मस्तमौला

पृथ्वीराज संयोगिता के महल के नीचे मछलियों को मोती चुगा रहे थे। संयोगिता की सखियों ने देखा, संयोगिता ने भी देखा। क्या देखा? हृदय के आराध्य प्रेममूर्ति पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहे हैं। एक क्षण के लिए सन्देह हुआ। चिन्तसारी में जाकर पृथ्वीराज का चित्र देखा और विश्वास हो गया कि निस्सन्देह यही वह राजा है जिसकी मूर्ति के गले में संयोगिता ने अपनी वरमाला डाल दी थी। और फिर पृथ्वीराज ने भी संयोगिता को देखा। क्या देखा?—

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दोय पब्बय।
पब्बय उप्पर भूंग भूंग उप्पर ससि सुभ्भय॥
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोवंड संघ कंद्रप्प वयट्ठौ॥
अहि मयर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्यो।
सुर भुवन छंडि कवि चंद कहि तिहि धोपै राजन पर्यो॥

इसके बाद प्रेम का देवता अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ने लगता है। संयोगिता ने दासी के हाथ से थाल में मोती भिजाया। पृथ्वीराज अन्यमनस्क भाव से उन मोतियों को भी मछलियों को चुगाते रहे। फिर दासी ने ऊपर इशारा करके संयोगिता को दिखाया। कवि ने बड़ी कुशलता के साथ प्रेमियों के भाव-परिवर्तन का चित्रण किया है। संयोगिता की विचित्र स्थिति है, बोले कि न बोले? बोले तो हाथ से चित्त ही निकल जाय और न बोले तो हृदय फट जाय! भइ गति साँप छुछुन्दरि केरी!—

जो जंपो तो चित्त हर अनजंपै विहरंत।
अहि डट्टै छञ्छन्दरी हियै विलगी वंति॥

परन्तु, अन्त तक निभुवनविजयी प्रेमदेवता की ही जीत होती है। पृथ्वीराज महल में लाये जाते हैं और गन्धर्वविवाह हो जाता है। इसी समय पृथ्वीराज को खोजते हुए गुरुराम गंगा के तट पर आ जाते हैं और उनसे सेना का हाल सुनकर पृथ्वीराज चल देते हैं। युद्ध फिर बीच में भयंकर ध्वनि के साथ आ उपस्थित होता है। संयोगिता व्याकुल हो उठती है। माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध उनके शत्रु को प्रेम करनेवाली बालिका के हृदय की दशा बड़ी ही करुण थी। वह व्याकुलभाव से रोकर मूर्छ्छत हो गई। इसी समय पृथ्वीराज उपस्थित हुए। संयोगिता को धोड़े पर बैठाकर वे दिल्ली की ओर चले। जुझाऊ बाजे बजते रहे, तलवारें खनखनाती रहीं, धोड़े दीड़ते रहे, सूर-सामन्त युद्धोन्माद में पगे रहे। भयंकर युद्ध हुआ। पृथ्वीराज के राजभक्त सामन्त कई दिनों तक लड़ते रहे और राजा अपनी प्रिया के साथ भागते रहे। वीर रस की पटभूमि पर यह प्रेम का चित्र बहुत ही सुन्दर निखरता है, पर युद्ध का रंग बहुत-बहुत गाढ़ा हो गया है। प्रेम का चित्र उसमें एकदम ढूब गया है। कथा का आरम्भ जिस प्रकार हुआ था उससे लगता है कि प्रेम के चित्र को इस प्रकार युद्ध के गहरे रंग में नहीं ढूबना चाहिए। यह युद्ध प्रेम का परिपोक्त होकर आया है। या तो युद्ध का इतना गाढ़ा रंग बाद के किसी

अनाड़ी चित्रकार ने पोता है या फिर चन्द बहुत अच्छे कवि नहीं थे। कथा का आरम्भ जिस ललित ऊर्जस्वल योजना के साथ हुआ था उसे देखते हुए उसकी यह परिणति सामंजस्य न पहचानने का चिह्न है। कथा की परवर्ती परिणति वताती है कि शुरू में मूल कवि ने इतना रंग नहीं पोता होगा। चन्द कुशल कवि ही थे। उन्होंने इस प्रेम-कथानक की बड़ी ही सुन्दर और सुकुमार योजना की थी। युद्ध का वर्णन उस प्रेम-प्रसंग को गाढ़ बनाने के उद्देश्य से आया है, सरदारों की मृत्यु-सूची वताने के लिये नहीं। जान पड़ता है; किसी उत्साही वीर कवि ने युद्ध के प्रसंग में बहुत-कुछ जोड़कर वेकार ही उसे इतना घसीटा है। इस बात को यदि स्वीकार न किया जाय तो कहना होगा कि चन्द को सामंजस्य का बोध नहीं था।

इस प्रकार संयोगितावाला प्रसंग निष्पन्दित रूप से मूल रासो का सर्वप्रधान अंग या यद्यपि अपने वर्तमान रूप में वह बहुत-से प्रक्रियत अंशों के कारण विकृत हो गया है। इसके बाद शुकचरित्र है जिसके बारे में पहले ही उल्लेख किया गया है कि कथा के प्रवाह के वह अनुकूल ही है। यद्यपि उसके बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह रासोकार की अपनी रचना है ही। अन्यान्य काव्यों की भाँति रासक-काव्य भी गिलनान्त होते हैं। संयोगिता के मिलन के बाद कवि का उद्देश्य पूरा हो जाना ही संगत जान पड़ता है। शुकचरित्र के द्वारा इंकिर्णी-हृदय शान्त करना भी संगत ही है। सन्देशरासक विरह-काव्य है, पर कवि अचानक अन्त में मिलन की योजना कर देता है। विरहिणी अपना व्याकुल सन्देशा देकर ज्यों ही घर की ओर लौटना चाहती है त्यों ही उसका पति दक्षिण की ओर से आता दिखाई देता है। इस प्रकार अप्रत्याशित 'अचितिर' मिलन की योजना कवि को स्वयं थोड़ा उद्वेजक मालूम पड़ती है। लेकिन उसका उपयोग वह पाठक को आशीर्वाद देने में कर लेता है—उस विरहिणी की कामना जिस प्रकार अप्रत्याशित रूप से छिन भर में ही सिद्ध हो गई उसी प्रकार इस काव्य के पढ़नेवालों की भी पूरी हो—बनादि अनन्त देवता की जय हो—

जेम अचितिर कज्ज सुत, सिद्ध खण्डि महंतु ।
तेम पठंत सणंत यह, जयउ अणाइ अणंतु ॥

और तो और, कालिदास को भी विरह का समुद्र उद्वेल कर लेने के बाद मिलन करा देने की उतावली हो गई थी—

श्रुत्वा वात्ता जलदकथितां तां घनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः ।
संयोज्यैती विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसखं भोजयामास शश्वत् ॥

यही चिराचरित भारतीय प्रथा है। रासो की समाप्ति भी आनन्द में ही होनी चाहिए। रासो में संयोगिता के साथ पृथ्वीराज के विलास का प्रधान वर्णन तो शुकचरित्र में ही मिल जाता है, पर अन्तिम हिस्सों में कई जगह विना किसी योजना के और विना किसी

प्रसंग के (या जबर्दस्ती लाये हुए प्रसंगों में) इस संयोग-सुख का वर्णन मिलता है। बीच-बीच में इछिनी का पतिव्रता-रूप भी स्पष्ट हो उठता है। इन्हीं किन्हीं प्रसंगों में मूल रासो का अन्तिम अंश प्रच्छन्न है। यह प्रसिद्ध है कि चन्द के पुत्र ने इस ग्रन्थ को पूरा किया था। पता नहीं, इस 'पुत्र' ने कितना विस्तार किया है। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इन 'पुत्रों' की संख्या बहुत अधिक रही है और दो-तीन शताब्दियों तक उनका प्रभुत्व रहा है।

आरम्भ में हमने ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से सम्बद्ध भारतीय काव्यों की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। उस पृष्ठभूमि में रासो का यह रूप अनुचित नहीं मालूम होता। सभी ऐतिहासिक कहे जानेवाले काव्यों के समान इसमें भी इतिहास और कल्पना का—फैक्ट और फिक्शन का—मिश्रण है। सभी ऐतिहासिक मानी जानेवाली रचनाओं के समान इसमें भी काव्यगत और कथानक-प्रथित रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। इसमें भी रस-सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, सम्भावनाओं पर अधिक जोर दिया गया है और कल्पना का महत्त्व पूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है।

पंचम व्याख्यान

अपध्रंश-ग्रन्थों के प्रकाशन से अनेक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। जब-जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ आती हैं, नई आचार-परम्परा का प्रचलन होता है, नये काव्य-रूपों की उद्भावना होती है और नये छन्दों में जनचित्त मुखर हो उठता है। नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है। श्लोक का उदय नये साहित्यिक मोड़ की सूचना है। वह बताता है कि संवेदनशील कविचित्त में नये युग के उपःकाल की किरण नवीन जागरण का सन्देशा दे चुकी है। इसी प्रकार गाथा का उदय दूसरी सूचना है और दोहा का तीसरी। श्लोक लौकिक संस्कृत के आविर्भाव का सन्देशवाहक है। वैदिक युग जब समाप्त हुआ तभी वह पूरी शक्ति के साथ उदित हुआ। एक तरफ उसमें आदिकवि का काव्य मुखर हुआ और दूसरी तरफ व्यासदंव का महाभारत। रामायण ने काव्य-साहित्य की परम्परा को जन्म दिया और इतिहास-काव्य ने पुराण और स्मृति-साहित्य को। बाद में लौकिक संस्कृत का काव्य अनेक छन्दों से बहु-विचित्र हो उठा। इन छन्दों में उपजाति-श्रेणी के छन्द अधिक लोकप्रिय हुए। फिर मन्दाक्रान्ता और शार्दूलविक्रीडित छन्द भी उदित हुए। अनेक कृती कवियों ने इन छन्दों में मनोहर काव्य लिखे। अमरुक और मेघदूत में वडे-वडे छन्द व्यवहृत हुए हैं। इतने वडे-वडे छन्दों में सुन्दर काव्य का निर्वाहि सूचित करता है कि कवियों का भाषा पर बहुत व्यापक अविकार हो चुका है। जिन दिनों यह जटिल छन्दोवन्धु लौकिक संस्कृत में बहुत सफलता-पूर्वक लिखा जाने लगा था उन्हीं दिनों लोकभाषा एक नये छोटे-से छन्द की ओर मुड़ गई। जिस प्रकार श्लोक संस्कृत के मोड़ का सूचक है उसी प्रकार गाथा, प्राकृत की ओर के झुकाव का व्यंजक है। अगे चलकर श्लोक संस्कृत का और गाथा प्राकृत का प्रतीक हो गया। सन्-ईसवी के आरम्भिक दिनों में गाथा का माहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश हो चुका था। 'हाल' का गाथाकोश या 'सत्तसई' अपने ढंग की विल्कुल नवीन रचना थी। इसमें जिस प्रकार की लौकिक-रस-प्रधान कविता का दर्शन होता है वह संस्कृत-साहित्य में अपरिचित-सा था। छोटे-मोटे नित्य घटनेवाले जीवन-व्यापारों के साथ इसमें एक ऐसा निकट-सम्पर्क पाया जाता है जो आमुषिकता के आतंक से ग्रस्त पूर्ववर्ती संस्कृत-साहित्य में विल्कुल नहीं मिलता। प्रेम और करुणा के चुभनेवाले भाव, प्रेमियों की सरस कीड़ाओं का बोलता हुआ चित्र और प्रेम के धात-प्रतिधात के मनोहर दृश्य इस ग्रन्थ में अत्यन्त सजीव रूप में प्रकट हुए हैं। अहीर और अहीरिनियों की प्रेमगाथाएँ, ग्रामवधूटियों की शृंगार-चेष्टाएँ, चबकी पीसती हुई या पीधों को सींचती हुई ग्राम-ललनाओं के नयनाभिराम चित्र, विभिन्न ऋतुओं के भावोदीपक व्यापार इस ग्रन्थ में बहुत ही मनोरम रूप में चित्रित हैं और फिर

भी इन प्राकृत गाथाओं को लोक-साहित्य नहीं कहा जा सकता। सतर्कता और सावधानी, जो संस्कृत-कविता की जान है, इसमें भी है। अग्राम्य मनोहर भावों का चुनाव रुचि के साथ किया गया है। एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर सात सौ रत्नों को निकालने की अनुश्रुति उसी सतर्कता और सावधानी की सूचना देती है। इसलिये, गाथा को इस विद्यम्भ-स्वीकृत रूप में आते-आते निश्चय ही कुछ शताब्दियों की धारा करनी पड़ी होगी। तीसरे झुकाव की सूचना लेकर एक दूसरा छन्द भारतीय साहित्य के प्रांगण में प्रवेश करता है, यह दोहा है। 'विक्रमोर्वशीय' में इसका सबसे पुराना रूप प्राप्त होता है, जैसे श्लोक, लौकिक संस्कृत का; गाथा, प्राकृत का प्रतीक हो गया है उसी प्रकार दोहा, अपभ्रंश का। कभी-कभी एक-आध दोहे प्राकृत के भी वताये गये हैं। जैसे हेमचन्द्र की समस्या-पूर्तिवाला 'प्रवन्धचिन्तामणि' का यह दोहा—

पहली ताव न अनुहरइ गोरी मुहकमलस्स ।

अद्विट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चंदस्स ॥

परन्तु, विचार किया जाय तो इस दोहे में कोई ऐसा विशेष लक्षण नहीं है जिससे इसे अपभ्रंश का दोहा न कहकर प्राकृत का कहा जाय। मुझे तो यह दोहा अपभ्रंश का ही लगता है और सच बात तो यह है कि जहाँ दोहा है वहाँ संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है। वैसे तो यह देश बहुत संरक्षणप्रिय है और जो छन्द एक बार चल पड़ा वह निरन्तर चलता रहता है। संस्कृत में भी दोहे लिखे गये हैं और गाथाएँ भी लिखी गई हैं और प्राकृत में भी सभी संस्कृत छन्दों का व्यवहार हुआ है, दोहे का भी कहीं-न-कहीं मिल ही जायगा। परन्तु, सचाई यही है कि श्लोक संस्कृत का, गाथा प्राकृत का और दोहा अपभ्रंश का अपना छन्द है। माइलधवल नामक कवि ने 'दव्वसहावपयास' (दव्यस्वभाव-प्रकाश) नामक ग्रन्थ को पहले दोहावन्ध (अर्थात् अपभ्रंश) में देखा था। लोग उनकी हँसी उड़ाते थे (शायद इसलिये कि अपभ्रंश गेवारू भाषा थी)। सो, उन्होंने गाहावन्ध (प्राकृत) में कर दिया। स्पष्ट ही दोहावन्ध का अर्थ अपभ्रंश है और गाहावन्ध का प्राकृत। माइलधवल कहते हैं—

दव्वसहावपयासं दोहावन्धेण आसि जं दिट्ठं ।

तं गाहावन्धेण य रइयं माइल धवलेण ॥

[जो दव्यस्वभावप्रकाश नामक ग्रन्थ पहले दोहावन्ध में दिखता था उसे माइलधवल ने गाथावन्ध में लिखा।]

—जैनसाहित्य का इतिहास, पृ० १६८

पहले-पहल यह सहज छन्द कव चल पड़ा—यह कह सकना कठिन है। विक्रमोर्वशीय में का दोहा-छन्द अपभ्रंश भाषा में ही निबद्ध है—

महं जानिअं मियलोयणी, णिसयरु कोइ हरेइ ।

जाव ण णव जलि सामल, धाराहरु बरसेइ ॥

—विक्रमोर्वशीय, चतुर्थ अंक

अर्थात् 'मैंने समझा था कि कोई निशाचर मृगलोचनी को हरण किये जा रहा है; लेकिन यह मेरी गलती थी। इस गलती को मैंने तब महसूस किया जब कि नवीन विद्युत से संयुक्त श्यामल मेघ बरसने लगे।' जैकोवी को लगा था कि यह भाषा कालिदास की नहीं हो सकती। अर्थात् यह प्रक्षिप्त है। भाव के बारे में भी किसी-किसी को सन्देह है। इसी शब्दावली से मिलता-जुलता दोहा हेमचन्द्र के व्याकरण में भी है—

मझे जाणिडं प्रियविरहियइं, कवि घर होइ विआलि ।

णवर मियंकु वि तिह तवइ, जिह दिण्यरु खयगालि ॥—हेमचन्द्र० ४

अर्थात् 'मैंने समझा था कि प्रिय-विरहिता नारियों को कम-से-कम सायंकाल में कुछ सहारा मिल जाता होगा। पर यहाँ तो मृगांक भी इस भाँति तपता है जैसे प्रलयकाल का सूर्य हो।' छः सौ वर्ष बाद एक-सी पदावली का आना बहुत आश्चर्य की बात नहीं है; पर सन्देह जगा देने की योग्यता तो उसमें है ही। परन्तु यह दोहा कालिदास में प्रक्षिप्त हो या न हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपभ्रंश का साहित्य ५वीं-६ठी शताब्दी में काफी मात्रा में वर्तमान था। दण्डी और भामह ने उस साहित्य को देखा था और एकाध शताब्दी बाद के तो कई अपभ्रंश-काव्य और दोहा-ग्रन्थ मिल भी गये हैं। अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' कहा गया है। इससे भी पता चलता है कि शुरू-शुरू में दोहा अपभ्रंश का प्रतीक था। बौद्धों और जैनों के कई दोहावद्ध अपभ्रंश-काव्य मिले हैं। 'परमात्मप्रकाश' के दोहों को सातवीं शताब्दी का बताया गया है; परन्तु मैंने अन्यत्र दिखाया है कि वे दोहे नवीं-दसवीं शताब्दी के पहले के नहीं हो सकते।

यदि जंगल में भटकते हुए प्रिया-विरह से व्याकुल राजा के प्रलाप में कवि ने तत्काल प्रचलित ग्राम्यजन के गेय पदों में से एकाध पद्य कहलवा दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। माइलधबल की उक्ति से स्पष्ट ही है कि अपभ्रंश या दोहावन्ध उन दिनों भले आदमियों की हँसी की चीज थी। इस दृष्टि से विक्रमोर्वशीयवाले दोहे को प्रक्षिप्त कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार गाथा को बहुत बाद साहित्यकारों का करावलभ्व मिला उसी प्रकार दोहा को भी कुछ दिनों बाद ही उपरले स्तर के साहित्यकारों का सहयोग मिला होगा। यह कह सकना कुछ कठिन ही है कि आभीर या अहीर जाति से इस छन्द का क्या सम्बन्ध था। नाट्यशास्त्र में कथित जिस उकारबहुला भाषा को आभीरों से सम्बन्धित किया गया है, वह अपभ्रंश ही थी। दण्डी ने भी आभीर आदि की बाणी को अपभ्रंश कहा है और प्राकृतपैगलम् में एक विशेष छन्द को आभीर या अहीर नाम दिया गया है। इस आभीर या अहीर छन्द में दोहा के द्वितीय और चतुर्थ चरण के समान ग्यारह मात्राओं के चार समान चरण होते हैं। इस छन्द का लक्षण इसी छन्द में इस प्रकार है—

ग्यारह मत्त करीज, अंत पओहर दीज ।

एहु सुछंद अहीर, जंपइ पिंगल धीर ॥—प्राकृतपैगलम्

सो, इसका कुछ सम्बन्ध दोहे से खोजा जा सकता है। आधुनिक अहीरों के अत्यन्त प्रिय विरहा-गान का खाका मूलतः दोहा छन्द ही है। सोरठा का सम्बन्ध सौराष्ट्र से जोड़ा

गया है; क्योंकि इसे कभी-कभी सोरटु दोहा ही कहा गया है और आभीर-गुजरों का सौराष्ट्र से पुराना सम्बन्ध है। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि दोहा का कुछ सम्बन्ध सम्भवतः आभीर आदि जातियों से स्थापित किया जा सके, परन्तु यह बात ठोस प्रमाणों पर कम और अटकल पर अधिक आधारित है।

गाथा प्राकृत-भाषा की प्रकृति के अनुसार दीर्घान्त छन्द में और दोहा अपभ्रंश-भाषा की प्रकृति के अनुसार हस्वान्त छन्द के रूप में है। यह छन्द नवीं-दसवीं शताब्दी में बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस छन्द में नई बात यह है कि इसमें तुक मिलाये जाते हैं। संस्कृत, प्राकृत में तुक मिलाने की प्रथा नहीं थी। दोहा, वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रण-कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश-भाषा केवल नवीन छन्द लेकर ही नहीं आई, बिल्कुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई। ईरान के साहित्य में मुस्लिम-पूर्वकाल में भी तुक मिलाने की प्रथा थी और बाद में तो फारसी गद्य में भी तुक मिलाकर लिखने की प्रथा चल पड़ी जिसका निश्चित अनुकरण विद्यापति की कीर्तिलता के गद्य में मिलता है। छठी-सातवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में उत्तर-पश्चिम सीमान्त से अनेक नई जातियों का आगमन हुआ और उनके कारण इस देश की भाषा में नये-नये तत्त्व प्रविष्ट हुए और कविता भी नवीन कारीगरी से समृद्ध हुई। हो सकता है कि यह तुक मिलाने की नवीन प्रथा भी नवीन जातियों के सम्पर्क का फल हो। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि दोहा नवीन स्वर में बोलता है। स्त्रियों की अद्भुत दर्पोक्ति, जो आगे चलकर डिगल-कविता की जान हो गई, इन दोहों में प्रथम बार बहुत ही दृष्ट स्वर में प्रकट हुई है—

महु कंतहो वे दोसड़ा, हेलिल म झंखहि आलु ।

देतहो हऊं पर उव्वरिय, जुज्जंतहो करवालु ॥

ऐ सबी, वेकार वक-वक मत कर । मेरे प्रिय के दो ही दोष हैं—जब दान करने लगते हैं तो मुझे बचा लेते हैं और जब जूझने लगते हैं तो करवाल को ।

जइ भग्गा पारककडा तो सहि मज्जु पिएण ।

अह भग्गा अम्हतणा तो तें मारिअडेण ॥

यदि शतुओं की सेना भगी है तो इसलिये कि मेरा प्रिय वहाँ है, और हमारी सेना भगी है तो इसलिये कि वह मर गया है !

जहि कप्पिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइ खगिण खगु ।

तर्हि तेसइ भड घड निवहि, कंतु पयासइ मरगु ॥

जहाँ वाणों से वाण कटते हैं, तलवार से तलवार टकराती है, उसी भट-घटा-समूह में मेरा प्रिय मार्ग को प्रकाशित करता है ।

भग्गऊं देक्खिवि निययबलु बलु पसरियऊं परस्स ।

उम्मिलइ ससिरेह जिवं करि करवाल पियस्स ॥

जब प्रिय देखता है कि अपनी सेना भाग खड़ी हुई है और शब्द का बल बढ़ रहा है

तब चन्द्रमा की महीन रेखा के समान मेरे प्रिय की तलवार छिल उठती है (और प्रलय मचा देती है !)

आयइं जम्महि अन्नहि वि गोरि सु दिज्जहि कंतु ।

गयमत्तहं चत्तंकुसहं जो अभिभडहि हसंतु ॥

इस जन्म में भी और अगले जन्म में भी है गौरि, ऐसा पति देना जो अंकुश के बन्धन को अस्वीकार कर देनेवाले मदमत्त हाथियों से अनायास भिड़ जा सके ।

संगर सएहि जु वण्णअइ देक्ख अम्हारा कंतु ।

अहिमत्तहं चत्तंकुसहं गय कंभेहि दारन्तु ॥

वह देखो, वह मेरा प्रिय है जिसका बखान संकड़ों लड़ाइयों में हो चुका है । वह—जो अंकुश को अस्वीकार करनेवाले मत्त गजराजों के कुम्भ विदीर्ण कर रहा है ।

गाथा की भाँति अपध्रंश के ये दोहे अपने-आपमें परिपूर्ण मुक्तक काव्यों के वाहन स्वीकार किये गये थे और सच पूछिये तो दोहा मुक्तक-काव्य का ही सफल वाहन है । यह प्रबन्ध या कथानक के लिये उपयुक्त छन्द नहीं मालूम होता । ढोला-मारू के दोहे यद्यपि कथानकरूप में लिखे गये हैं; परन्तु वे वस्तुतः मुक्तक ही हैं । इसी कथानक-सूत्र को जोड़ने के उद्देश्य से सोलहवीं शताब्दी में दोहों के बीच-बीच में चौपाई जोड़कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था । चौपाई छोटा छन्द है, वह कथानक को सहज ही जोड़ देता है । अपध्रंश-काल के आरम्भ से ही इस छन्द के इस गुण को समझा जाने लगा था; परन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति जानने में कुछ समय लगा ।

अपध्रंश के काव्य कडवक-बद्ध हैं । पञ्जटिका या अरिल्ल छन्द की कई पंक्तियाँ लिख-कर कवि एक घट्ता या ध्रुवक देता है । कई पञ्जटिका, अरिल्ल या ऐसे ही किसी छोटे छन्द को देकर अन्त में घट्ता या ध्रुवक—यह कडवक है । पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' ने लिखा है कि अपध्रंश-काव्यों में सर्ग की जगह प्रायः सन्धि का व्यवहार किया जाता है । प्रत्येक सन्धि में अनेक 'कडवक' होते हैं और एक कडवक आठ 'यमकों' का तथा एक यमक दो पदों का होता है । एक पद में, यदि यह पद्धडियावद्ध हो तो सोलह मात्राएँ होती हैं । आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार चार पद्धडियों यानी आठ पंक्तियों का 'कडवक' होता है । हरएक कडवक के अन्त में में घट्ता या ध्रुवक होता है (जैन-साहित्य का इतिहास, पृ० ३७७ ठिं०) । अरिल्ल चौपाई का ही प्रूवंख्य है । कथा-काव्य में इसका खूब प्रयोग भी हुआ है; परन्तु शुरू-शुरू में चौपाई की अपेक्षा अपध्रंश में पद्धडिया का ज्यादा प्रचार था । जिस प्रकार आजकल हमलोग चौपाई लिखने में तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाया करते हैं उसी प्रकार स्वयम्भू ने चउम्हु या चतुर्मुख को पद्धडिया का राजा बताया था । हरिवंशपुराण में उन्होंने कहा है कि पिंगल ने छन्द-प्रस्तार, भामह और दण्डी ने अलंकार; वाण ने अक्षराडम्बर, श्रीहर्ष ने निपुणत्व और चतुर्मुख ने छर्दनिका, द्विपदी और ध्रुवकों से जटित पद्धडिया दिया—छहणिय धुवएहि जडिय । चउम्हेण समप्तिपद्धडिय । (जै० सा० ३०, पृ० ३७१-३७२) ।

यह तो हुई चौपाई की बात, घत्ता दोहे से भिन्न छन्द है। यह ६ मात्राओं का छन्द होता है। प्रथम चरण में १०, ८, १३ पर यति होती है और दूसरे चरण में भी यही क्रम रहता है—

पढ़मं दह बीसामो वीए मत्ताइं अट्ठाइं ।

तीण तेरह बिरई, घत्त मत्ताइं वासटिं ॥

उदाहरण यह है—

रण दक्ष दक्ष दहणु जिणु कुसुमधन्

अंघअ गंघ विलास कर ।

सो रक्खउ संकरु, असुर भयंकरु

गिरिणायरि अद्धंग घरु ॥

[जिसने रणदक्ष दक्ष को मारा, कुसुमधन्वा (काम) को जीता, वह पार्वती को अर्द्धांग में धारण करनेवाले असुर-भयंकर शंकर रक्षा करें।]

परन्तु व्यवहार में घत्ता शब्द का व्यवहार छेदन के अर्थ में ही होता रहा और कई बार काव्यों में अरिल्ल या पञ्चटिका के बाद उल्लाला या और कोई इसी तरह का 'द्विपंक्ति-लेख्य छन्द' (Couplet) दे दिया जाता था। तुलसीदासजी की रामायण में इसी कड़वक-पद्धति को आठ या कुछ कम-ज्यादे चौपाईयों के बाद दोहा या घत्ता देकर स्वीकार किया गया है। रामायण के प्रेमी पूरे कड़वक को भी दोहा ही कहते हैं। रामायण के दो 'दोहा' पढ़ने का भलवत होता है दो कड़वक पढ़ना। तुलसी-रामायण के इन कड़वकों को दोहा-घत्ताक कड़वक कह सकते हैं; क्योंकि रामायण में घत्ता के स्थान पर दोहा-छन्द का प्रयोग किया गया है। अपभ्रंश के काव्यों में भी घत्ता के स्थान पर अन्य छन्दों का व्यवहार हुआ है।^१

(१) उदाहरणार्थ 'पउमसिरचरित्त' में प्रथम सन्धि के घत्ते 'घत्ता' छन्द में हैं। एक उदाहरण यह है—

पणमिनि जय सामिणि नय सुर कामिणि वागेसरि सिय कमल कर ।

पणयहं सबभावि जीएं पभावि कविंहि पयट्टइ वाणि वर ॥ १४ ॥

किन्तु द्वितीय सन्धि में दूसरा छन्द 'घत्ता' के लिए व्यवहृत हुआ है—

अवयरित गइंदह, कुमरु लोय लोयण सुहउ ।

सहु बंधव लोयहि, संखु वि विसरित संमुहउ ॥ ३८ ॥

(२) कई अपभ्रंश-काव्यों में घत्ता को घत्ता छन्द में ही लिखने का नियम कठोरता के साथ अपनाया गया है; पर सबमें उतनी कड़ाई नहीं दिखाई गई। कभी-कभी शुरू में

१. उदाहरणार्थ पुष्कर्यंत के 'णायकुमारचरित्त' की सातवीं सन्धि के प्रथम कड़वक का घत्ता यह है—

कुडिलंकुस वस एहि णिच्चमेव पडिवणउ ।

हत्थिर्हि सोहइ वाणु जेहि संबंधणु दिणउ ॥

फिर 'पउमसिरचरित्त' की विद्यय सन्धि के घत्ते इस छन्द में हैं—

बन्धय जण बल्लह गुरुयणि विनय मरंद गइ ।

लंघिय रथणायर राहव खक्खण दोवि नइ ॥

दुवई (द्विपदी) देकर अन्त में किसी दूसरे छन्द में घत्ता दिया गया है। णायकुमारचरित में इस नियम का बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है। कभी छोटे-छोटे छन्दों में भी कड़वक लिखे गये हैं। इन सब नियमों का परवर्ती काल में अनुसरण हुआ है। अनेक छन्दों में कथा कहने की प्रथा केशवदास की अपनी चलाई हुई नहीं है। करकंडुचरित, णायकुमारचरित आदि में छन्द बदलने की प्रवृत्ति मिलती है। वस्तुतः, छन्दों के मामले में अपनेंश बहुत समृद्ध भाषा कही जा सकती है। अस्तु। दोहा का घत्ता अपनेंश के कवियों में एकदम अपरिचित तो नहीं था, जिनपदसूरि के 'थूलभद्रफालु' में इसका उदाहरण मिल जाता है। परन्तु, प्रवन्ध-काव्य में चौपाई-दोहा का कम बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ। सम्भवतः, पूर्वी प्रदेश के कवियों ने प्रवन्ध-काव्य में चौपाई और दोहा से बने कड़वकों का प्रयोग शुरू किया था। जायसी आदि सूफी कवियों ने इसी प्रथा का अवलम्बन किया था; परन्तु वीजरूप में यह प्रथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में मिल जाती है। सरहपा ने लिखा है—

पंडिग्र सअल सच्च वक्खाणइ । देहहि बुद्ध वसंत ण जाणइ ॥
गमणागमण न तेन विखंडिग्र । तो वि णिलज्ज भणहि हउ पंडिग्र ॥
जीवंतह जो नउ जरइ,
सो अजरामर होइ ।
गुरु उवएसे विमल मइ,
सो पर धण्णा कोइ ॥

[पण्डित सकल शास्त्रों को ले वखानता है, पर देह में ही बुद्ध वसते हैं, यह नहीं जानता। उसने आवागमन को तो खण्डित नहीं किया तो भी वह निलंज्ज कहा करता है कि मैं पण्डित हूँ। जो जीते-जी जीर्ण नहीं होता वही अजर-अमर होता है। वही धन्य है जिसे गुरु के उपदेश से विमल मति प्राप्त हो गई है।]

चौपाई-दोहे का सबसे पुराना प्रयोग शायद यही है। जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्धों ने ही इस शैली में लिखना शुरू किया था। पश्चिम में पद्मद्विया-वन्ध अधिक प्रचलित था और पद्मद्विया से कभी-कभी चौपाई का अर्थ भी ले लिया जाता था। जैसा कि जिनदत्तसूरि की चचंरी के वृत्तिकार जिनपाल के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। किन्तु, सब मिलाकर चौपाई-दोहा की पद्धति उघर दीर्घकाल तक लोकप्रिय नहीं हुई। गोरखनाथ की बताई जानेवाली वाणियों में भी इस पद्धति को कथंचित् खोज लिया जा सकता है और कवीरदास ने तो निश्चित रूप से इस पद्धति का व्यवहार किया था। इतने बड़े पृथ्वीराजरासो में इस पद्धति का बहुत ही कम स्थानों में उपयोग हुआ है। रासो में व्यालीसवें समय (पृ० ११६८) में एक स्थान पर चौपाई-दोहा की पद्धति मिलती है। यह अंश बहुत परवर्ती जान पड़ता है। छन्दों के आधार पर ही जो लोग रासो के प्राचीनतम रूप का अनुमान करते हैं वे तो इसे प्रक्षिप्त मानेंगे ही। ऐसा लगता है कि पूरव से ही यह प्रथा धीरे-धीरे पश्चिम की ओर गई है।

एक मनोरंजक बात इस प्रसंग में यह है कि जिस प्रकार घट्टा के स्थान पर अपन्नंश-काव्य के कड़वकों में दूसरे-दूसरे छन्द भी रख दिये जाते थे, उसी प्रकार परवर्ती काल में अवधी के प्रबन्धकाव्यों में दोहा के स्थान पर अन्य छन्दों के रखने की प्रवृत्ति का भी कुछ प्रमाण मिल जाता है। नूर मुहम्मद ने दोहा के स्थान पर वरचै रखकर अपने 'अनुराग-बाँसुरी' नामक प्रबन्धकाव्य के कड़वकों की रचना की थी।^१ पर सब मिलाकर पूर्वी प्रदेशों में दोहा का ध्रुवक देने का नियम ही बना रहा। सरहपाद से लेकर द्वारकाप्रसाद मिश्र तक यह परम्परा लगभग अविच्छिन्न भाव से ही चली आई है।

चौपाई छन्द ही कथानक छन्द है। सूरदास के नाम पर बहुत-से पद चौपाई छन्दों में बढ़ मिलते हैं। कई प्रतियों में ये चौपाईवाले पद प्राप्त नहीं होते और कई में मिल जाते हैं। सूर-साहित्य के समालोचकों के लिये यह एक समस्या ही रही है। मुझे लगता है कि भावपूर्ण पदों के बीच, रासलीला आदि के समय कथासूत्र को जोड़ने के लिये ये चौपाई-बढ़ पद बाद में जोड़े गये होंगे। ढोला के दोहों का कथासूत्र मिलाने में कुशललाभ ने इसी कौशल का सहारा लिया था।

सो, यद्यपि अपन्नंश के आरम्भिक काव्यों में चौपाई-जैसे कथानकसूत्र-योजक छन्द का प्रचलन हो गया था और चौपाई के साथ अपन्नंश के लाड़िले छन्द दोहा का गठबन्धन भी हो चुका था; पर कथा-काव्य के लिये इसका महत्व बाद में समझा गया।

धीरे-धीरे अपन्नंश में भी बड़े-बड़े छन्द लिखे जाने लगे। रोला, उल्लाला, वीर, कव्व, छप्य और कुण्डलिया अपन्नंश के अपने छन्द हैं। धीरे-धीरे अपन्नंश की कविता भी आडम्बरपूर्ण होती गई। छप्य और कुण्डलिया-जैसे छन्दों को सँभालकर वीरदर्प की ओजस्विनी कविता लिखना भाषा की प्रोद्धता का सबूत है।

चन्दवरदाई छप्यों का राजा था। बहुत पहले शिवर्सिंह ने यह बात लिखी थी और रासो असल में छप्यों का ही काव्य है। कविराज श्यामलदास तो रासो में छप्य और दूहा के अतिरिक्त और किसी छन्द का अस्तित्व ही नहीं मानते, और वैसे तो हर तलवार की झंकार में चन्दवरदाई तोटक, तोमर, पढ़री और नाराच पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्य और दूहा ही लिखते हैं। यह अत्यन्त संकेतपूर्ण तथ्य है कि चन्दवरदाई के नाम से

१. एक उदाहरण—

बनो पंथ दोऊ मनमाँही । मानलीनता आवै नाहीं ॥

आवै जाइ सुवा उपदेसी । दोऊ दिसि तं बनो संदेसी ॥

बुइ भन मिले बीच जो होई । सो व्यवहार न जाने कोई ॥

नित पलुहाइ नेह की बेली । फूले लागि प्रीति की कली ॥

हित प्रगटावै ऊभी साँसू । बदन गोरना चख कं आँसू ॥

कंसे छुपे नेह दुख भारी । जहाँ आँसु ऐसी विभिचारी ॥

नेह न छिपे छिपाएं जिमि मृगसार ।

बहुं दिसि ले पहुँचावै बचन बयार ॥

—अनुरागबाँसुरी, साक्षात् खण्ड

मिलनेवाले छन्दों में जिनकी प्रामाणिकता लगभग निःसन्दिग्ध है, वे छप्य ही हैं। मुनि जिनविजयजी ने 'पुरातनप्रबन्ध-संग्रह' में चन्द के नाम पर मिलनेवाले चार छप्यों का उल्लेख किया है। उनमें से तीन तो मुनिजी ने स्वयं ही वर्तमान रासो से ढूँढ़ निकाले हैं। पुरातन प्रबन्ध के छप्यों की भाषा अपभ्रंश है। मैंने बहुत पहले अनुमान किया था कि चन्द हिन्दी-परम्परा के आदिकवि की अपेक्षा अपभ्रंश-परम्परा के अन्तिम कवि थे। यह बात इन छप्यों से प्रमाणित होती है।

इकु वाण पहुवीसु जु पइ कइवासह मक्कओ ।
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्षंतरि चककउ ॥
वीअं करि संधीउं भमइ सूमेसरनंदण ।
एहु सु गडि दाहिमओं खणइ खुदइं सइंभरिवण ॥
फुड छंडि न जाई इहु लुविभउ वारइ पलकउ खल गुलह ।
णं जाणउं चंदवलद्विउ कि न वि छट्टइ इह फलह ॥

—पुरातनप्रबन्ध-संग्रह, पृ० ८६, पद्य २७५

एक बान पहुमी नरेस कैमासह मुक्यौ ।
उर उप्पर थरहर्यौ वीर कष्ठंतर चक्यौ ॥
वियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन ।
गाढ़ी करि निग्रह्यौ घनिव गड्यौ संभरि धन ॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गड्यौ गुन गहि अग्गरौ ।
इम जंपै चंदवरद्विया कहा निघट्टै इन प्रलौ ॥

—पृथ्वीराजरासो, पृ० १४९६, पद्य २३६

अगहु म गहि दाहिमओं रिपुरायखयंकरु ।
कूडमंत्रु मम ठवओं एहु जंवुय (य?) मिलि जगगरु ॥
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खवउं वज्ञाइं ।
जंपइ चंदवलिद्दु मज्जा परमक्खर सुज्जाइ ॥
पहु पहुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि ।
कइवास विआस विस्टठविणु मच्छिवंधिवद्यों मारिसि ॥

—पृ० प्र० सं०, पद्य २७६

अगह मगह दाहिमौ देव रिपुराई ययंकर ।
कूरमंत जिन करौ मिले जंव् वै जंगर ॥
मो सहनामा सुनौ एहु परमारथ सुज्जै ।
अर्जै चंद विरह वियो कोउ एहु न बुज्जै ॥
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इड संभलि संभारि रिस ।
कैमास बलिष्ठ बसीठ विन म्लेच्छ बंध बंध्यौ मरिस ॥

—पृ० रा०, पृ० २१८२, पद्य ४७५

त्रीणि लक्ष तुषार सबल पाषरी भइं जसु हय ।
 चउद सय मयमत्त दंति गज्जंति महाभय ॥
 बीस लक्ख पायकक सफर फारकक पणुद्धर ।
 लूसडु अरु बलु यान सखं कु जाणई ताहं पर ॥
 छत्तीस लक्ष नरहिवई विहिविनडिओं हो कीम भयउ ।
 जइचंद न जाणउ जलहुकइ गयउ, क मूडं कि धरी गयउ ॥

—पृ० ३० सं०, पृ० ८८, पद्य २८७

असिय लष्प तोषार सजउ पष्पर सायदल ।
 सहस हस्ति चवसटिठ गरुआ गज्जंत महाबल ॥
 पंच कोटि पाइकक सुफर पारकक धनुद्धर ।
 जुध जुधान वर बी तोन बंधन बद्धनभर ॥
 छत्तीस सहस रन नाइंवौ विही त्रिम्मान ऐसो कियौ ।
 जैचंद राई कविचंद कही उदधि बुडिड के घर लियौ ॥

—पृ० ८० रा० ८०, पृ० २५०२, पद्य २१६

एक मनोरंजक बात यह है कि चन्दवरदाई ने संस्कृत और प्राकृत श्लोक लिखने का भी प्रयास किया है। संस्कृत वे साटक या श्लोक छन्द में लिखते हैं और प्राकृत गाहा (गाथा) में। इन दोनों बातों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि अपभ्रंश वे दूहा और छप्पय में लिखते होंगे। छप्पय आगे चलकर डिगल का प्रधान छन्द हो गया है, पर यह संस्कृतवाला साटक क्या है? रासो के सम्पादकों को इस नाम की व्याख्या करने में काफी श्रम उठाना पड़ा था। उन्होंने स्पष्ट ही अनुभव किया था कि यह छन्द 'शार्दूलविक्रीडित' का नामान्तर है। यहाँ इस बात का उल्लेख उनके मत में कोई भ्रान्ति दिखाने या संशोधन करने के उद्देश्य से नहीं किया जा रहा है। उन्होंने ठीक ही अनुमान किया था कि साटक शार्दूलविक्रीडित का नामान्तर है। मुझे इस शब्द पर विचार करने से एक दूसरी बात सूझी और यद्यपि यह थोड़ा आप्रासांगिक है, तो भी इस अध्ययन के लिये उपयोगी समझकर उसकी चर्चा कर रहा हूँ।

प्राकृतपिंगल में शार्दूलविक्रीडित का लक्षण और उदाहरण दिया गया है और उसके बाद ही 'सद्दूलसट्ट' का लक्षण दिया हुआ है जो वस्तुतः एक ही छन्द हैं। आगे 'शार्दूलस्य लक्षणद्वयमेतत्' कहकर उपसंहार दिया गया है। टीका में 'सट्टव' या 'साटक' छन्द के और भी कई भेद दिये गये हैं। यहाँ छन्द के इन भेदों की चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है। मुझे सिफं सट्टक या साटक शब्द से भतलब है। शार्दूलविक्रीडित का अनुवाद ही शार्दूलसट्टक होगा। वस्तुतः सट्टक एक प्रकार का नाटकभेद है। वह प्राकृत में लिखी हुई नाटिका के समान ही होता है। कर्पूरमंजरी एक सट्टक है। इसके लेखक राजशेखर ने सूत्रधार के मुख से इसका लक्षण कहलवाया है। सूत्रधार कहता है कि जो लोग सहृदय या 'छइल' (छविल ? या छैना !) हैं अर्थात् विदग्ध हैं, उन्होंने कहा है, कि सट्टक वह है

जो बहुत कुछ नाटिका के समान होता है। अन्तर सिफं यह है कि उसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते—

सो सट्टओत्ति भण्णइ दूरं जो णाडियाए अणुहरदी ।

किपुण पयेस विक्खंभग्राइं इह केवलं णत्थि ॥

सो, सट्टक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नौटंकी की तरह। 'रासक' भी इसी प्रकार का एक रूपकभेद है और छन्द तो है ही। श्रीहरिवल्लभजी भायाणी ने सन्देश-रासक की प्रस्तावना में रासक छन्द और काव्यरूप पर विचार किया है। उससे जान पड़ता है कि रासक एक छन्द का नाम है। सन्देशरासक का यह मुख्य छन्द है। इस पुस्तक का लगभग एक तिहाई हिस्सा रासक छन्द में ही लिखा गया है। यह इक्कीस मात्राओं का छन्द है। इसे आभाणक भी कहते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि शुरू-शुरू में रासकजातीय ग्रन्थ प्रधानतः इसी छन्द में लिखे जाते होंगे। रासक का एक उदाहरण यह है—

तं जि पहिय पिक्खेविणु उक्खंसिरिय ।

मंथर गय सरलाइवि उतावलि चलिय ॥

तह मणहर चल्लंतिय चंचल रमण भरि ।

छड़वि खिसिय रसणावलि किकिणि रव पसरि ॥ —सन्देशरासक, २।२६(३)

[वह प्रियोत्कण्ठिता उस पथिक को देखकर मन्थर गति को सरल करके उतावली होकर चली। मनोहर भाव से उस प्रकार चलती हुई उस नायिका के कटि-प्रदेश से खिसक कर करधनी गिर गई और उसकी किंकणियों की छवनि वायुमण्डल में फैल गई।]

श्रीजिनदत्तसूरि की चर्ची में इसी छन्द का व्यवहार है। उनके 'उपदेशरसायनरास' में दूसरे छन्द का प्रयोग है जिसे टीकाकार ने पद्धटिका-वन्ध कहा है। यह चौपाई जैसे १६ मात्रा के छन्द में है। टीकाकार ने बताया है कि यह सभी रागों में गाया जा सकता है—

अत्र पद्धटिकावन्धे मात्राः पोडशपादगाः ।

अयं सर्वेष रागेष गीयते गीतिकोविदैः ॥

इससे जान पड़ता है कि पद्धटिका-वन्ध चौपाई छन्दों में भी होता था। पद्धरी वस्तुतः १६ मात्रा का छन्द है और इसमें रचना करते समय कवियों ने यथेच्छ स्वाधीनता का परिचय दिया है। पर चौपाई को पद्धड़िया कहने का रिवाज बहुत पुराना नहीं जान पड़ता।

विरहांक ने अपने 'वृत्तजातिसमुच्चय' में दो प्रकार के रासक-काव्यों का उल्लेख किया है। एक में विस्तारितक या द्विपदी और विदारी वृत्त होते थे और दूसरे में अडिल्ल, दोहा, मत्ता, रड़ और ढोला छन्द हुआ करते थे। सन्देशरासक दूसरी श्रेणी की रचना है। स्वयम्भू अपने 'स्वयम्भूछन्दस्' में बताते हैं कि रासावन्ध में घत्ता छहुणिआ (छप्पय ?) और पद्धड़िया के प्रयोग से जनमन-अभिराम हो जाता है—

घत्ता छहुणिआहि पद्धड़ियाहि रुएहि ।

रासावन्धो कव्वे जनमन अहिरामओ होहि ॥

इससे पता चलता है कि उन दिनों रासावन्ध काव्य का एक मुख्य भेद था और उसमें विविध छन्दों का प्रयोग होता था। पृथ्वीराजरासो इसी श्रेणी का काव्य है। इसमें रासक छन्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। हालाँकि स्वयम्भू के स्वयम्भूछन्दस् से स्पष्ट है कि रासक २१ मात्राओं का छन्द है, कोमल भाषा में लिखा जाता है, चौदह पर विश्राम होता है। इस प्रकार यह अभिरामतर लघु गतिवाला छन्द रासावन्ध-काव्य में व्यवहृत होकर उसे मधुरतर बना देता है—

एक बीस मत्ताणिह णउ उद्दामगिरु ।
चउदसाइ विस्साम हो भगण वीरह थिरु ॥
रासावंध समिद्ध एउ अहिराम अरु ।
लहु अति अल अवसान विरइअ महुर अरु ॥

शार्दूलसाटक का मतलब शार्दूल का खेल है। ठीक विक्रीडित शब्द का अनुवाद समझिए। संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित शब्द का किसी ने 'सद्दूलसाटब' अनुवाद किया होगा। यह बात थोड़ी महत्त्वपूर्ण इसलिये है कि 'रासो' शब्द को लेकर हिन्दी के विद्वानों ने वेमेल वेमतलब के अटकल लगाए हैं। सन्देशरासक-जैसे ग्रन्थों के मिलने के बाद भी यह अटकल समाप्त नहीं हुआ है। रासक वस्तुतः एक विशेष प्रकार का खेल या मनोरंजन है। रास में वही भाव है। सट्टक भी ऐसा ही शब्द है। लोक में इन मनोरंजक विनोदों को देखकर संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें रूपकों और उपरूपकों में स्थान दिया था। इन शब्दों के अर्थ विशेष प्रकार के विनोद और मनोरंजन थे। परवर्ती राजस्थानी काव्यों में चरितकाव्यों में चरितनायक के नाम के साथ 'रासो', 'विलास', 'रूपक' आदि शब्द देकर ग्रन्थ लिखना रूढ़ हो गया था। राजस्थानी रणमल्लरासो, राणारासो, सगतसिंहरासो, रतनरासो आदि रासो-नामधारी ग्रन्थ बहुत हैं। फिर 'विलास'-नामधारी ग्रन्थ भी कम नहीं हैं—राजविलास, जगविलास, विजयविलास, रतनविलास, अभयविलास, भीमविलास इत्यादि। और रूपक नाम देकर भी ग्रन्थ हैं। जैसे—राजरूपक, गोगादेरूपक, रावरिणमल्ल-रूपक, गर्जसिंहरूपक इत्यादि। ये सब शब्द बाद में चरितकाव्यों के लिये रूढ़ हो गये हैं। रासो या रासा नाम देखकर ही वीरगाथा समझ लेना बहुत अच्छे अध्ययन का सबूत नहीं है। शुक्लजी ने वीसलदेवरासो को स्पष्ट रूप से वीरगाथा के बाहर घोषित किया था और अब तो दर्जनों ऐसे रासो या रासानामधारी ग्रन्थ मिले हैं जो वीरगाथा किसी प्रकार नहीं कहे जा सकते। रासो केवल चरितकाव्य का सूचक है। प्रकाश और विलास भी तथैव च। सो, रासो में का 'साटक' शब्द इशारा करता है कि किसी जमाने में साटक या सट्टक विनोदवाची शब्द था और लोक में उसका प्रचलन देखकर शास्त्रकारों ने उसे नाट्यभेदों में गिना जिस प्रकार रास या रासक को गिना था।

गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव १६वीं शताब्दी में हुआ था, उन दिनों लोक में बहुत तरह के काव्य प्रचलित रहे होंगे। गोस्वामीजी ने देखा कि ये 'प्राकृतजनगुणगानमूलक' काव्य बड़ा अनिष्टकर प्रभाव फैला रहे हैं। उन्हें इस बात से जरूर ही बहुत क्लेश हुआ होगा। चरितगत शिथिलता को बढ़ानेवाली चीजें उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं थीं।

उन्होंने दुःख के साथ और दृढ़ता से घोषित किया कि—“कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुन गिरा लगति पछताना ।” दुःख उस समय की सामाजिक हीनता के कारण था और दृढ़ता अपनी शक्ति में विश्वास के कारण । वे इस प्रयत्न में लग गये कि इन ‘प्राकृत-जनगुणगानमूलक’ काव्यरूपों को राममय कर दिया जाय । वे खूब सफल हुए । उन दिनों जितने ‘प्राकृतजनगुणगानमूलक’ काव्य थे वे सभी गोस्वामीजी के प्रभावशाली काव्य से दब गये । सब काव्यरूपों को तो शायद वे राममय नहीं कर पाये होंगे; पर अधिकांश क्षेत्रों में वे सफल रहे । उनके काव्य-प्रयत्नों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि उनके पूर्व की दो-तीन शताब्दियों में किस जाति का साहित्य लिखा जा रहा था । गोस्वामीजी ने इन काव्यरूपों का उपयोग किया था—

१. दोहा-चौपाईवाले चरितकाव्य
२. कवित्त-सवैया
३. दोहों में अध्यात्म और धर्मनीति के उपदेश
४. वरवै छन्द
५. सोहर छन्द
६. विनय के पद
७. लीला के पद
८. वीरकाव्यों के लिये उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति
९. दोहों में सगुन-विचार
१०. मंगल-काव्य

इनमें से कुछ रूपों के बारे में तो निश्चय के साथ ही कहा जा सकता है कि ये रूप अवश्य वर्त्तमान थे । चरितकाव्य बहुत लिखे जा रहे थे । जायसी का पद्मावत और कुछ अन्य मुसलमान कवियों के चरितकाव्य प्राप्त हुए हैं । स्वयं जायसी ने अपने काव्य में कुछ लोकिक कथानकों का उल्लेख किया है । इनमें मुग्धावती है, मृगावती है, मधुमालती है और प्रेमावती है । मृगावती और मधुमालती के नाम पर लिखे गये काव्यग्रन्थों का पता लगा है । जायसी से पूर्व की एक और प्राचीन प्रेमकथा चन्द्रायन या लौरचन्द्रा भी प्राप्त हुई है । हो सकता है कि इन नायिकाओं के चरित को आश्रय करके कई-कई काव्य लिखे गये हों । उन दिनों के रसिया युवक इन कहानियों को बृद्धों की आंख बघाकर पढ़ते थे । सन् १६०३-१६० के आसपास जैनकवि बनारसीदास ने अपना आत्मचरित ‘अर्द्धकथानक’ लिखा था, उसमें उन्होंने अपनी युवावस्था के इस कुकृत्य का वर्णन किया है । वे कहते हैं कि हाट-बाजार जाना बन्द करके मृगावती और मधुमालती की पोथियां पढ़ा करता था ! सूफी कवियों ने इन अत्यन्त प्रचलित कहानियों में सूफियाना मर्मी भाव भरना चाहा । गोसाईजी को इन ‘कहनी-उपखान’ के सहारे धर्मनिरूपण करनेवाले कलिकाल के अध्यम कवियों का पता था—

साखी सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान ।
भगति निरूपहि अधम कवि निदहि वेद पुरान ॥

इस प्रकार 'कहनी-उपखान' के द्वारा धर्मनिरूपण की प्रथा इस देश में नई भी नहीं है और अपरिचित भी नहीं है। गोस्वामीजी ने यह नहीं बताया कि ये 'कहनी-उपखान' कहनेवाले कवि सूफी ही थे या और कोई। सूफी भी हो सकते हैं, जैन भी और निर्गुणिथा तो थे ही।

कवित्त-सबैया की प्रथा कव चली, यह कहना भी कठिन है। ये व्रजभाषा के अपने छन्द हैं। सबैया का सन्धान तो कथंचित् संस्कृत-बृत्तों में मिल भी जाता है, पर कवित्त कुछ अचानक ही आ धमकता है। तुलसीदास ने जब इस छन्द का इतना उपयोग किया है तो इसका प्रचार निश्चय ही उन दिनों खूब रहा होगा। गंग, केशव आदि उनके समसामयिक कवियों ने जमकर इनका प्रयोग किया है। कवित्त अर्थात् धनाक्षरी। रासो में कवित्त का अर्थ है छप्पय। छन्द के नाम पर कुछ विशुद्ध व्रजभाषा के धनाक्षरी छन्द चलते हैं, इनमें पृथ्वीराज का गुणानुवाद है। शिवसिंह ने अपने सरोज में ऐसे कुछ छन्द उद्धृत किये थे। एक इस प्रकार है—

मंडन मही के अरि खंडे पृथिव्यराज वीर
तेरे डर वैरी वधू डाँग-डाँग डगे हैं।
देश-देश के नरेश सेवत सुरेश जिमि
काँपत फणेश सुनि वीर रस पगे हैं।
तेरे सुतिमंडलनि कुँडल विराजत हैं
कहै कवि चंद यहि भाँति जेब जगे हैं।
सिधु के वकील संग मेरु के वकीलहिं लै
मानहुँ कहत कछु कान आनि लगे हैं।

भाषा से ये परवर्ती लगते हैं। साहित्य में इस छन्द का प्रवेश एकदम अचानक हुआ है। मूलतः ये बन्दीजन के छन्द हैं। सम्भवतः उसी परम्परा में इसका मूल भी मिले। जिस प्रकार श्लोक लौकिक संस्कृत का, गाथा प्राकृत का और दोहा अपभ्रंश का अपना छन्द है उसी प्रकार कवित्त-सबैया व्रजभाषा के अपने छन्द हैं। जिसे हिन्दी का आदिकाल कहा जाता है उसमें इस छन्द का प्रचार निश्चय ही हो गया था।

वरवै अवधी का अपना छन्द है। कुछ कवियों ने इसका उत्तम प्रयोग किया है। पर यह आगे चलकर उतना लोकप्रिय नहीं हो सका है। सोहर अब भी लोकगीत के रूप में जी रहा है। साहित्य में तुलसीदास के पहले इसका प्रयोग अवतक नहीं प्राप्त हुआ।

'दोहा' अपभ्रंश का लाडला छन्द है, यह पहले ही बताया जा चुका है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य में इसका दर्शन होता है। प्रवेश तो इसका बहुत पहले ही हो चुका था, पर सातवीं-आठवीं शताब्दी में इसने शृंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोकचित्त में प्रवेश कराने का व्रत लिया। धर्म के क्षेत्र में जोइन्दु और रामसिंह के मर्मी उपदेशों को इसने प्रचारित किया, सरह, कन्द, तिल्लोपा आदि बौद्ध सिद्धों की रहस्यवादी भावनाओं का बाहन बना, गोरखनाथ-जैसे अलख जगानेवालों का सहायक हुआ और कबीर जैसे फक्कड़ का सन्देशवाहक बना। शृंगार-क्षेत्र में इसकी दुन्दुभी बहुत पहले

वज चुकी थी। हेमचन्द्र के व्याकरण, प्रवन्धचिन्तामणि, सन्देशरासक और ढोलामारू के दोहों में इस छन्द की भाववाहन-योग्यता अद्भुत रूप में प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसी बावा कव छोड़नेवाले थे। इसे पवित्र भक्ति की मन्दाकिनी में स्नान कराने का श्रेय उन्हीं को है।

मंगलकाव्य की परम्परा बंगाल में प्राप्त होती है। जान पड़ता है कि तुलसीदास के पूर्व इस प्रकार के मंगलकाव्य बहुत लिखे जाते थे। बंगाल में पाये जानेवाले मंगल-काव्यों में देवताओं के यश वर्णित हैं। कवीर के नाम पर 'आदिमंगल', 'अनादिमंगल' और 'अगाधमंगल' नाम के तीन मंगलकाव्य मिलते हैं। तुलसीदास ने पार्वतीमंगल' और 'जानकीमंगल' नाम से दो मंगलकाव्य लिखे हैं जो वस्तुतः विवाह-काव्य हैं। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि मंगलकाव्य प्रधानतः विवाह-काव्य थे। पृथ्वीराज-रासो के ४६वें समय में 'विनयमंगल' नाम का एक काण्ड जोड़ दिया गया है। यह भी विवाह-काव्य है। प्रसंग संयोगिता की शिक्षा का है। संयोगिता को उसकी गुरु ब्राह्मणी ने वधू-धर्म की शिक्षा दी थी। ऐसा जान पड़ता है कि यह 'विनयमंगल' कोई पृथक् काव्य था जो बाद में रासो में जोड़ दिया गया है। अध्याय के मध्य में ही 'इति विनयकाण्ड समाप्त' कहा गया है जो इस बात का सूचक है कि यह विनयकाण्ड पूरा-का-पूरा कहीं से उठाकर इसमें जोड़ दिया गया। आगेवाले अध्याय में फिर से विनयमंगल का प्रसंग आ जाता है। ऐसा गहुमहु क्यों हुआ? संयोगिता की शिक्षा का यह प्रकरण मूल रासो का अंग था, उसमें विनयमंगल का प्रसंग देखकर बाद में किसी इसी नाम की पूरी पुस्तक को बहाँ जोड़ दिया गया है। रासोवाला विनयमंगल इस बात का सबूत है कि मंगल-साहित्य बंगाल से राजस्थान तक किसी समय व्याप्त था। कवीरदास का 'आदिमंगल' अपनी व्याख्या के लिये एक छोटे-से उपाख्यान की अपेक्षा रखता है। परवर्ती कवीरपन्थी ग्रन्थों में सृष्टि-प्रक्रिया का यह उपाख्यान मिल जाता है। मैंने अन्यत्र बंगाल के धर्ममंगल-साहित्य से इसकी तुलना करके दिखाया है कि ये दोनों साहित्य एक दूसरे के पूरक हैं। सम्भवतः तुलसीदास ने जब 'कहनी-उपखान'-बालों की खबर ली थी तो मंगल-साहित्य के ग्रन्थ भी उनकी दृष्टि में थे। बंगाल में पाये जानेवाले मंगलकाव्य पौराणिक उपाख्यान-जैसे ही हैं और सचमुच ही उनमें 'धरमनिरूपन' का प्रयास है। उत्तरभारत से अब उस श्रेणी का साहित्य प्रायः लुप्त हो गया है। पंजाब में 'हकिमणीमंगल' नामक लोकगीत अब भी गाँवों में गाये जाते हैं। श्रीमहेन्द्र राजा ने एक ऐसे ही लोकगीत का सन्धान बताया है (जनपद, अंक ३)। और भी प्रदेशों में ऐसे काव्य जीवित होंगे। पूर्वी जिलों में माँगर (मंगल) विवाह-गीत ही हैं। पर तुलसी-पूर्व युग में विवाहपरक मंगलकाव्यों के साथ ही 'उपखानमूलक' मंगलकाव्य भी अवश्य लिखे जाते होंगे। कवीर के नाम पर बाद में लिखे गये अनेक मंगल और उपखान-ग्रन्थ इसके साक्षीरूप में जीवित हैं।

तुलसीदास के द्वारा प्रयुक्त अन्य काव्यरूपों को देखकर भी अनुमान होता है कि उस प्रकार के काव्यरूप पहले वर्तमान थे। अभी तक मैंने पदों के साहित्य को नहीं लिया। अब उसका भी प्रसंग आ रहा है; किन्तु उसकी चर्चा करने के पहले तुलसीदास ने जिस

'साखी सबदी दोहरा' पद्धति पर कटाक्ष किया है, उसकी थोड़ी विवेचना कर लेना आवश्यक है।

× × × × ×

कबीरदास के बीजक में इतने काव्यरूपों का प्रयोग है—

१. आदिमंगल (मंगलकव्य)
२. रमेनी (चौपाई-दोहे)
३. शब्द अर्थात् गेय पद
४. ग्यांनचाँतीसा अर्थात् वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर से आरम्भ करके पद लिखना
५. विप्रमतीसी
६. कहरा
७. वसन्त
८. चाँचर
९. बेलि
१०. विरुद्धी (साँप के विष उतारनेवाला गान)
११. हिंडोला
१२. साखी (दोहे)

यद्यपि बीजक जिस रूप में आज मिलता है वह बहुत पुराना नहीं है तो भी यह मान लिया जा सकता है कि इसमें जितने प्रकार के काव्यरूपों का प्रयोग है, वे सभी कबीरदास के समय में लोकप्रिय थे। तुलसीदास की भाँति कबीर ने भी अपने आस-पास के लोकप्रचलित विनोदों और काव्यरूपों को अपनाया होगा और उसमें अपने उपदेशों को भरकर जनता के उपयोग के लिये प्रचारित किया होगा। सन्त लोग प्रायः ही ऐसा करते आये हैं। कभी-कभी सन्तों ने लोक-प्रचलित ऐसे विनोद-रूपों का उल्लेख किया है जिनका साहित्य में बहुत बाद में प्रवेश हुआ है। कबीरदास के प्रयुक्त बहुत-से काव्यरूप जो बीजक में सुरक्षित हैं आज भी जी रहे हैं, जैसे विरुद्धी साँप का विष उतारने का गाना है। कबीरदास ने उसका प्रयोग विषयरूपी सर्प के विष उतारने के लिये किया है। कभी-कभी उनके द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों की परम्परा काफी पुरानी भी सिद्ध होती है। आदिमंगल की चर्चा हम पहले ही कर आये हैं। यहाँ एक-एक करके 'साखी सबदी दोहरा' पर विचार करना है। यह 'साखी' शब्द गोरखपन्थियों के साहित्य में भी मिलता है और कबीर-पन्थी साहित्य में तो मिलता ही है। सम्भवतः बौद्ध सिद्धों को भी इस शब्द का पता था; क्योंकि कण्ठपा के एक पद में 'साखि करव जालंधरपाएँ' में जालन्धरपाद को साक्षी करने की वात है। यहाँ मतलब यह मालूम होता है कि जालन्धरपाद के वचनों को कण्ठपा साखीरूप में उल्लेख कर रहे हैं। धीरे-धीरे गुरु के वचनों को साखी कहा जाने लगा होगा। बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश दोहा-छन्दों में लिखे गये थे। इसलिये दोहा और साखी समानार्थक शब्द मान लिये गये होंगे। सरहपाद ने अपने एक दोहे में उसे 'उएस' या उपदेश कहा है। यही 'उएस' या उपदेश परवर्ती काल में साखी बन गया है। परवर्ती

कवीर-साहित्य में तो दोहे का अर्थ ही साखी हो जाता है। अन्य निर्गुणिया सन्तों के सम्प्रदाय में भी साखी शब्द का प्रचलन है। प्रायः साखी की पुस्तकों का विभाजन अंगों में हुआ करता है अर्थात् साखी साक्षात् गुरुस्वरूप है। इसीलिये सन्त लोग अन्य दोहों से साखी को भिन्न वस्तु मानते हैं। रमेनियों के साथ साखी को उसकी प्रामाणिकता बढ़ाने के लिये जोड़ा जाता है। मेरा विश्वास है कि रमेनी शब्द कवीर-सम्प्रदाय में बहुत बाद में चला है; परन्तु साखी शब्द निश्चय ही पुराना है।

'शब्द' गेय पद हैं। पुराने सिद्ध गेय पदों को किसी-न-किसी राग के नाम से ही लिखते थे; जैसे राग 'गवड़ा' (गीड़), राग धनाश्री इत्यादि। यह प्रथा सूरदास, तुलसीदास और दादू आदि सन्तों में भी पाई जाती है। गुरुग्रन्थसाहित्य में भी पदों के राग निर्दिष्ट हैं और कवीरदास के जो पद उसमें संकलित हैं उनके रागों का भी निर्देश कर दिया गया है। कवीर-ग्रन्थावली में भी पदों के गेय रागों का निर्देश है। यहाँ तक कि रमेनी का भी राग 'सूहों' निर्दिष्ट है। केवल वीजक में इस नियम का अपवाद है। यहाँ केवल 'शब्द' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। क्यों ऐसा हुआ, इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं भालूम। आदिग्रन्थ में वीजक के कुछ पद मिल जाते हैं।^१ परन्तु अधिकांश शब्द उसमें नहीं हैं। हमने 'कवीर' नामक अपनी पुस्तक में दिखाया है कि तुलसीदास को वीजक के एक सौ नवें पद का पता था जिसमें 'दशरथ सुत तिहुं लोक वखाना, राम नाम को मरम है आना' कहा गया है। 'शब्द' गोरखनाथियों में भी प्रचलित था। ऊपर बताया गया है कि सन्तों ने लोकप्रचलित काव्यरूपों को अपनाया और उसमें अपना उपदेश प्रचारित किया है। इस बात का एक भनोरंजक उदाहरण है ढोला-मारू के दोहों का कवीर के नाम से थोड़ा परिवर्तन के साथ पाया जाना। 'ढोला-मारू रा दोहा' के सम्पादकों ने कवीर के दोहों में से ऐसे बहुत खोज निकाले हैं जो बहुत कुछ मिलते हैं। मेरा अनुभान है कि ये दोहे बहुत अधिक लोकप्रिय होंगे और कवीर या कवीरमत के अन्य सन्तों ने उनमें थोड़ा परिवर्तन करके अपना सिद्धान्त प्रचार करना चाहा होगा। दो-एक उदाहरण लीजिए—

१. ढोला—राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल ।

जिणकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल ॥

कवीर—अंवर कुंजाँ करलियाँ गरजि भरे सब ताल ।

जिनिपैं गोविंद बीछुटे तिनके कौन हवाल ॥

२. ढोला—यह तन जारौं मसि करूं, घुआँ जाहि सरग्गि ।

मुझ प्रिय बहल होइ करि बरसि बुझावै अग्गि ॥

१. वीजक का शब्द ७३ आदिग्रन्थ के सोरठ २ से

" " " ११२ " " गौड़ी ४२ से

" " " ९७ " " प्रभाती २ से

" चाचरी २ " " गौड़ी ५७ से तुलनीय ।

कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं जसु धुआँ जाय सरगि ।

मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अगि ॥

कबीर—चहु तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नाँउ ।

३. ढोला—सुहिणा तोहि मराविसूँ, हियइ दिराउँ छेक ।

जद सोऊँ तद दोइ जन, जद जागूँ तद हेक ॥

कबीर—कबीर सुपनै रैनिकै पारस जियमै छेक ।

जो सोऊँ तो दोइ जन जे जागूँ तौ एक ॥

४. ढोला—चिता वंध्यउ सयल जग, चिता किणहि न बद्ध ।

जे नर चिता बस करइ, ते माणस नहि सिद्ध ॥

कबीर—संसै खाया सकल जगु संसा किनहुँ न खद्ध ।

जे बेघे गुरु अष्टिरां तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध ॥

५. ढोला—तालि चरंति कुँझडी सर संधियउ गंभारि ।

कोइक आखर मनि वस्यउ, ऊँडी पंख संभारि ॥

कबीर—काटी वूटी मछली छाँकै घरी चहोड़ि ।

कोई एक अपिर मन वस्या दहमैं पड़ी वहोड़ि ॥

इस प्रकार के और भी अनेक दोहे मिलते हैं। इसी तरह हेमचन्द्र के व्याकरण में एक दोहा मिलता है जिसे सूरदास की कहानी में भक्तिप्रचार के उपयोग में लाया गया है। दोहा इस प्रकार है—

वा बिछोडवि जाहि तुहुँ, हउ तेवइं को दोषु ।

हिग्राम्बिठश्च जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु ॥

[बाँह छुड़ाकर तुम जा रहे हो, मैं तुम्हें क्या दोष दूँ। ऐ मुंज, तुम हृदय में स्थित हो, यहाँ से निकलो तो समझूँ कि तुम सचमुच सरोप हो !]

स्पष्ट ही यह बात किसी ने मुंज से कही है। सूरदासवाली कहानी में इससे मिलता-जुलता दोहा सूरदास के मुख से भगवान् को सम्बोधित करके कहलाया गया है—

बाँह छुड़ाए जात हौ निबल जानि के मोहि ।

हिरदय से जव जाहु तौ, सबल बदौंगो तोहि ॥

सभी देश में जनसाधारण में प्रचलित काव्यरूपों को सन्तों ने अपने मतप्रचार का साधन बनाया है। हमारे देश के सभी सम्प्रदाय के सन्तों ने ऐसा किया है। हमने पहले ही देखा है कि तेरहवीं शताब्दी के जिनदत्तसूरि नामक जैन सन्त ने लोक-प्रचलित चर्चरी और रासकजाति के गीतों का सहारा लिया था। चर्चरी उन दिनों जनता में बड़े चाव से गाई जाती थी। श्रीहर्षदेव की 'रत्नावली' से और वाणभट्ट की पुस्तकों से चर्चरीगान की सूचना प्राप्त होती है। वारहवीं शताब्दी में सोमप्रभ के वसन्तकाल में चर्चरीगान सुना था—'पसरंत चाह चच्चरिव भालु।' तेरहवीं शताब्दी के लक्खण नामक कवि ने 'जउणा णइ उत्तर तडित्थ' (अर्थात् यमुना नदी के उत्तरी तट पर बसे हुए) रायवड्हिय (रायभा शहर) का वर्णन किया है जो आगरे के आसपास कहीं रहा

होगा। उन्होंने उस नगर के चौहटु को चंचरध्वनि से उद्दाम देखा था। इस चंचरी का कोई निर्दिष्ट छन्द नहीं था। कवीरदास के वीजक में चाँचर नामक एक अध्याय है। इस चाँचर में पुरानी चंचरी का ही अवशेष है। वीजक की एक चाँचर इस प्रकार है—

खेलति माया मोहिनी जिन्ह जेर कियो संसार।

रच्यों रंग ते चूनरी कोइ सुंदरि पहिरे आय॥

इसमें केवल गान का रूप ही नहीं लिया गया है, आध्यात्मिक उपदेश में चंचरी-जैसे लोकप्रिय गान के प्रिय विषय शृंगार रस का आभास देने का भी प्रयत्न है!

इसी प्रकार लोक-प्रचलित फाग आदि गानों का भी जैन मुनियों ने उपयोग किया है। जिनपद्मसूरि की पुस्तक 'यूलभद्रफागु' प्रसिद्ध ही है। इस विद्वान् कवि की रचना में अद्भुत नाद-सौन्दर्य है। वीजक का वसन्त इसी प्रकार लोक-प्रचलित काव्यरूप का अंगीकरण है। भाषा इसकी अवश्य बदल गई है, पर यह इस बात का सबूत तो है ही कि उन दिनों के प्रचलित काव्यरूपों का सन्तों ने अपने ढंग से अपने उद्देश्य के लिये उपयोग किया है। अस्तु, अब फिर प्रकृत विषय पर लौटा जाय।

संवत् १७१५ की लिखी हुई एक प्रति से संगृहीत और गोरखवानी में उद्धृत पदों को 'सबदी' कहा गया है। जान पड़ता है, वीजक का 'शब्द' इसी 'सबदी' का संशोधन है। इस प्रकार यह 'सबदी' शब्द नायपन्थी योगियों का है और कवीरपन्थ में वह सीधे वहीं से आया है। निश्चय ही हमारे आलोच्य काल में इस ढंग में पद बहुत प्रचलित थे। यह नहीं समझना चाहिए कि सिर्फ तुलसीदास ने ही 'साखी सबदी' की निन्दा की है। स्वयं कवीरदास ने भी कहा है—

माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना।

साखी सबदी गावत भूलै आतम खबर न जाना॥

इसका मतलब यह हुआ कि कवीरदास के पहले 'साखी सबदी' का खूब प्रचार था। वर्णमाला के अक्षरों से आरम्भ करके काव्य लिखने की प्रथा भी पहले रही होगी। जायसी का 'अखरावट' इसी पद्धति पर लिखा गया था। बंगाल के कई मुसलमान कवियों के लिखे 'चौंतीसा' नामवाले ग्रन्थ मिलते हैं। ऐसा लगता है कि मुस्लिम सूफी सन्तों ने ही इस प्रथा का प्रचार किया होगा। परन्तु पदों का 'राग' नाम देकर लिखने की प्रथा कब से शुरू हुई, यह विवादास्पद प्रश्न है। सिद्धों ने तो निश्चित रूप से पदों के साथ राग का नाम दिया है। इसलिये यह तो नहीं कहा जा सकता कि राग नाम देकर लिखने की प्रथा मुस्लिम-काल के बाद चली है। शकुन्तला नाटक में सूनधार ने निम्नलिखित श्लोक कहा है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसमं हृतः।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥ (१-५)

इसमें पाये जानेवाले 'सारंग' शब्द पर थोड़ा विवाद हुआ है। कुछ लोग वताना चाहते हैं कि यहाँ 'सारंग' शब्द पर श्लेष है। उसका एक अर्थ शांत या सारंग नामक राग है और दूसरा हरिण। यदि यह बात सत्य हो तो मानना पड़ेगा कि रागों का प्रचलन छठी शताब्दी से ही है; परन्तु इसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

यह हमने पहले ही देखा है कि कबीरदास का प्रयोग किया हुआ एक काव्यरूप 'चाँचर' है। टीकाओं में इस शब्द का अर्थ खेल वताया गया है। कालिदास और श्रीहर्ष आदि के नाटकों में 'चर्चंरी-गान' के अनेक उल्लेख हैं। अपन्रंश में जिनदत्तसूरि की लिखी हुई 'चर्चंरी' प्राप्त हुई है। उसके टीकाकार (जिनपाल उपाध्याय) ने भी वताया है कि यह भाषा-निवद्ध गान नाच-नाचकर गाया जाता है। इस चर्चंरी का प्रथम पद इस प्रकार है—

कवु अउव्वु जु विरयइ नवरस भर सहित ।
लद्ध पसिद्धिहि सुकइहि सायरु जो महित ॥
सुकइ माहु ति पसंसहि जे तसु सुहगुरुहु ।
साहु न मुणइ अयाणुय मइजिय सुरगुरुहु ॥ ४ ॥

बीजक का 'चाँचर' ठीक इसी छन्द में नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि चर्चंरी या चाँचर की दीर्घ परम्परा रही होगी। इन दो-चार उदाहरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि बीजक में जिन काव्यरूपों का प्रयोग किया गया है उनकी परम्परा बहुत पुरानी है। और आलोच्य काल में विभिन्न सम्प्रदाय के गुरुओं ने धर्मप्रचार के लिये इन काव्यरूपों को अपनाया था।

लीला के पद कब लिखे जाने लगे—यह भी कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता; परन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों में श्रीकृष्णलीला के गाने की प्रथा चल पड़ी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। जयदेव का गीतगोविन्द इसी प्रकार के मात्रिक छन्दों के पद में लिखा गया था। पण्डितों का अनुमान है कि लोकभाषा में इस प्रकार के गान लिखे और गाये जाते रहे होंगे। जयदेव ने उन्हीं के अनुकरण पर ये गान लिखे थे। जयदेव का जन्म बंगाल के बीरभूमि जिले में हुआ था और उड़ीसा की जगन्नाथपुरी उनकी साधना का क्षेत्र थी। हाल में ही उड़ीसा के कुछ विद्वानों ने यह दावा करना शुरू किया है कि जयदेव का जन्म भी उड़ीसा के किसी गाँव में हुआ था। जो हो, जयदेव का जन्मस्थान और साधनास्थान पूर्वी भारत में था, यह निविवाद है। जयदेव के बाद उसी प्रकार की पदावली बंगाल के चण्डीदास और मिथिला के विद्यापति नामक कवियों ने लिखी। इसलिये साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि यह पद लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों से चलकर पश्चिम की ओर आई है। बीढ़ सिद्धों के गान, जयदेव का गीतगोविन्द, चण्डीदास के पद, विद्यापति के भजन—सभी इस प्रकार का अनुमान करने को प्रोत्साहन करते हैं। परन्तु क्षेमेन्द्र (११वीं शताब्दी) के 'दशावतारवर्णन' में कवि ने एक जगह लिखा है कि जब गोविन्द यानी श्रीकृष्ण मथुरापुरी को चले गये तो वियोगक्षिप्त-हृदया गोपियाँ गोदावरी (?) के किनारे पर गोविन्द का गुणगान करने लगीं—

गोविन्दस्य गतस्य कंसनगरीं
व्याप्ता वियोगाग्निना ।
स्त्नरघश्यामलकूललीनहरिणे
गोदावरी - गह्वरे ।

रोमन्थस्थितगोगणैः परिचया-
द्यत्कर्णमाकर्णितम् ।
गुप्तं गोकुलपल्लवे गुणगणं
गोप्यः सरागा जगुः । (८-१७३)

गोपियों ने जो गान गाया उसे कवि ने मात्रिक छन्द में लिखा है। अनुमान किया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार के गान अपने आसपास सुने थे। और इस गान में उन्होंने उन्हीं लोकिक गीतों का अनुकरण किया है। गीत इस प्रकार है—

ललितविलासकलासुखखेलन-
ललनालोभनशोभनयोवन-
मानितनवमदने ।
अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल-
कालकलिन्दसुताविगलज्जल-
कालियकुलदमने ।
केशकिशोरमहासुरमारण-
दारुणगोकुलदुरितविदारण-
गोवर्धनहरणे ।
कस्य न नयनयुगं रतिसंज्ञे
मज्जति मनसिजतरलतरंगे-
वररमणीरमणे ।

इस गान से यह अनुमान होता है कि जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित थे उसी प्रकार के पद सुदूर कश्मीर में भी प्रचलित थे। अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे। सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। उनके पद इतने सुन्दर और कलापूर्ण हैं कि सहस्र यह विश्वास नहीं होता कि यह रचना ब्रजभाषा की पहली रचना है। निश्चय ही इसके पहले बहुत बड़ी परम्परा रही होगी। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो एक बार यह भी अनुमान किया था कि सूरसागर दीर्घकाल से चली आती हुई किसी पुरानी परम्परा का विकास है। सूरदास और उन्हीं के समान अन्य भक्त कवियों के पदों का बाद में चलकर इतना अधिक विकास हुआ कि उनके पहले के सभी पद या तो लुप्त हो गये या फिर इन्हीं कवियों में से किसी-न-किसी के नाम पर चल पड़े।

गीतगोविन्द में बहुत थोड़े गानों का संग्रह है। कवि ने उसे प्रबन्धकाव्य के रूप में ही सजाया है। निःसन्देह गीतगोविन्द के गान गीतिकाव्यात्मक अर्थात् 'लिरिकल' हैं। ऐसे पदों से प्रबन्ध का काम नहीं लिया जा सकता। इसीलिये गीतगोविन्द वास्तविक प्रबन्धकाव्य नहीं हो सका है। वह वस्तुतः गीति-काव्यसंग्रह ही है। सूरदास आदि ब्रजभाषा के कवियों ने भी बहुत कुछ इसी पद्धति को अपनाया है। श्रीकृष्णलीला का गान करने के पहले जयदेव ने दशावतार का स्मरण कर लिया है। ऐसा जान पड़ता है

कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में दशावतारवर्णन वहुत आवश्यक समझा जाने लगा था। प्राकृतपंगलम् में उदाहरणरूप से उद्भूत कई छन्दों से दशावतार-चरित-वर्णन का आभास मिल जाता है। मूल रासो में भी दशावतारवर्णनपरव कुछ कविताएँ अवश्य रही होंगी। वर्तमान रासो में भी दशावतार नाम का एक अध्याय जुड़ा हुआ है। मूल ग्रन्थ से यह लगभग स्वतन्त्र ही है। इसमें अच्छे कवित्व का परिचय है। जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्र के दशावतारचरितम् की भाँति यह भी देशी भाषा में लिखा हुआ कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था। वर्तमान रासो में इसका 'दसम्' नाम अब भी सुरक्षित है। 'दसम्' अर्थात् दशावतारचरित। यद्यपि वर्तमान रासो में यह दूसरे समय के रूप में अन्तर्भुक्त किया गया है तथापि इसका दसम् नाम उसमें दिया हुआ है। सम्पादकों को इस नाम की व्याख्या में कहना पड़ा है कि दसम् अर्थात् द्वितीय समय। जब तक यह स्वीकार न किया जाय कि दसम् नाम का दशावतारचरितविषयक कोई अलग ग्रन्थ था जो बाद में रासो में जोड़ दिया गया था तब तक 'दसम्' अर्थात् 'द्वितीय' की ठीक-ठीक संगति नहीं लग सकती।

परन्तु मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि 'दसम्' नामक पुस्तक चन्द की रचना होगी ही नहीं। इसमें सुन्दर कवित्व है। यह किसी अच्छे कवि की रचना जान पड़ती है। इसमें राधा का नाम आया देखकर विदकने की कोई जरूरत नहीं है। यह विश्वास विल्कुल गलत है कि जयदेव के पहले उत्तरभारत में राधा शब्द अपरिचित था। मैंने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में दिखाया है कि दसवीं शताब्दी में आनन्दवर्द्धन को इस राधा का परिचय था। उन्होंने एक पुराना श्लोक उद्भूत किया है जिसमें श्रीकृष्ण उद्धव से राधा का कुशल पूछ रहे हैं। श्लोक इस प्रकार है—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदः
राधारहःसाक्षिणाम् ।

भद्रं भद्र ! कलिन्दराजतनया-
तोरे लतावेशमनाम् । इत्यादि ।

इसी तरह ग्यारहवीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने भी अपने दशावतारचरित में राधा की चर्चा की है। श्लोक इस प्रकार है—

गच्छन् गोकुलगूढकुञ्जगहनान्यालोकयन् केशवः
सोत्कण्ठं वनितानतो वनभुवा सख्येव रुद्धाञ्चलः ।
राधाया न न नेति नीविहरणे वैकलव्यलक्ष्याक्षराः
सस्मार स्मरसाध्वसाद्भूतनोरद्वीकितरिक्ता गिरः ॥

इसी प्रकार वेणीसंहार नाटक के इस श्लोक में भी राधा नाम है—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसे
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽत्र कलषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोदगते—
रक्षणोऽननयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः ॥

हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में जो अपध्रंश के दोहे संगृहीत हैं वे उनके समय के पहले के हैं। कुछ ऐसे भी होंगे जो उनके या उनके समसामयिक कवियों के लिखे होंगे। उनमें भी राधा का प्रधान गोपीरूप में ही उल्लेख है। इस दोहे में राधा के वक्षःस्थल की महिमा इस प्रकार बताई गई है कि इसने आँगन में तो हरि को नचा ही दिया, लोगों को विस्मय के गत्त में गिरा ही दिया (इससे बड़ी सफलता इसकी क्या हो सकती है)। सो, अब इसका जो होना हो, सो हो—

हरि णच्चाइव अंगणइ विम्हइ पाडिउ लोइ ।

एव्वहि राह पयोहरं जं भावइ तं होइ ॥

[इन्होंने हरि को नचा दिया आँगन में, विस्मय में डाल दिया लोगों को; अब राधा के इन पयोधरों का जो भावै, सो हो ।]

जो लोग गाथाशप्तसती में आये हुए राधा शब्द को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं उन्हें आश्वस्त होकर इतना तो कम-से-कम मान ही लेना चाहिए कि नवीं-दसवीं शताब्दी में राधा का नाम उत्तरभारत में अत्यन्त परिचित हो चुका था, इसलिए वर्तमान पृथ्वीराज-रासो में संयोजित 'दसम्' अर्थात् 'दशावतारचरित' में राधा नाम आ जाने मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि यह रचना चन्द की नहीं है। परन्तु मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि यह रचना चन्द की है ही। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि यह दसम् किसी अच्छे कवि की रचना है और भक्तिकाल के पूर्ववर्ती दशावतारवर्णन-प्रम्परा का एक उत्तम निदर्शन है। विनयमंगल की ही भाँति इसे भी भक्तिपूर्वकाल की साहित्यिक रचना-प्रवृत्ति का निदर्शन मानना चाहिए। ये दोनों रचनाएँ 'रासो' से बाहर की हैं। यह भी सम्भव है कि चन्द ने अलग से इन दो पुस्तकों की रचना की हो और बाद में वे रासो के साथ जोड़ दी गई हों। या फिर यह भी हो सकता है कि ये किसी अन्य अच्छे कवि या कवियों की रचनाएँ हों। रासो में ये जोड़ी गई हैं, यह स्पष्ट है। दशावतार का कोई प्रसंग नहीं था। यदि था भी तो वहूत थोड़ा, उसको इतने विस्तार से कहने की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं थी। जान पड़ता है कि रासो में कुछ थोड़ा-सा प्रसंग देखकर किसी ने बाद में इस पुस्तक को उसमें जोड़ दिया है और विनयमंगल तो स्पष्टरूप से अलग पुस्तक है। उसके समाप्त हो जाने के बाद भी रासो में विनयमंगल का प्रसंग चलता रहता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उस स्थान पर विनयमंगल का थोड़ा-सा प्रसंग देखकर किसी ने वहाँ पर इस पूरी पुस्तक को जोड़ दिया है। वस्तुतः ये दोनों ही भक्तिकाल के पूर्व के काव्यरूपों के उत्तम नमूने हैं।

तुलसीदास ने 'साखी' के अतिरिक्त धर्म-निरूपण के एक और साधन का भी उल्लेख किया है। वह है दोहरा। दोहरा का अर्थ दोहा ही है। पर साखी से भिन्न ये दोहे क्या रहे होंगे? नाथपन्थियों और कबीरपन्थियों के 'धर्म-निरूपणपरक' दोहे 'साखी' कहे जाते हैं। बाकी जैनों में प्रचलित एक प्रकार के अपध्रंश दोहे हैं, जिनका स्वर बहुत कुछ निर्गुणियों के दोहों से मिलता है, पर वे साखी न कहलाकर 'दोहे' ही कहलाते रहे हैं। ऐसे दोहों के दो-तीन पुराने ग्रन्थ पाये गये हैं। उनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है; क्योंकि आगे

चलकर हिन्दी-साहित्य में सन्तों ने जो दोहे लिखे हैं वे इन्हीं दोहों के स्वर में हैं। स्वर भी उनका वही है। जोइन्दु का परमात्मप्रकाश तथा योगसार और मुनिराम सिंह के पाहुड़ दोहे ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि तुलसीदास ने जहाँ लोकप्रचलित और जनता को आकृष्ट करनेवाले सभी छन्दों और काव्यरूपों को राममय करने का प्रयत्न किया वहाँ उन्होंने आल्हा या वीर छन्द को नहीं अपनाया। इस बात से यद्यपि निश्चित रूप से तो कुछ नहीं सिद्ध होता; परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि तुलसीदास के काल में आल्हा का प्रचार नहीं था। या तो वह उन प्रदेशों में उस समय तक आया ही नहीं जिनमें तुलसीदास विचरण किया करते थे या फिर वह तबतक लिखा ही नहीं गया; क्योंकि इतनी प्रभावशालिनी और लोकाकर्षक काव्यपद्धति को जानते हुए भी तुलसीदास न अपनाते,— यह बात समझ में आने लायक नहीं है। विशेष करके जब राम का चरित्र इस पद्धति के लिये बहुत ही उपयुक्त था। वर्तमान आल्हा बहुत बाद में संगृहीत हुआ है और इसके आधार पर कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं।

इस प्रकार पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के काव्यरूपों से हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारे आलोच्य काल में मध्यदेश में कौन-से काव्यरूप प्रचलित थे।

अनुक्रमणिका

अ

- अखरावट : ११५
- अगरचन्द नाहटा : १४, १९, ५६
- अगाधमंगल : १११
- अजयपाल : ३५
- अहमाण (अब्दुल रहमान) : ४५, ९१
- अनन्तपुत्र रुद्र : ७९
- अनादिमंगल : १११
- अन्तरंग सन्धि : ४
- अनुराग-बाँसुरी : १०४
- अपदेवसूरि : ७
- अपभ्रंश : १, ८, १०, ११, १८, १९, २२, २६,
३६, ३८, ४०, ४३, ४५, ५२, ५४,
५७, ५९, ६१, ६३, ६४, ७२,
७४, ९७, १०४, १०८, ११०,
१११
- साहित्य : ३, ४, २४
- काव्य : ४, ७, ४५, ६३, ९९,
१०२
- भाषा : ४, ४२, १००
- काल : २४, ४९, ५२, १०१
- अवन्यकोपप्रसाद : ३१
- अब्दुर्रहमान : ७
- अभयतिलक : ९
- अभैविलास : ६६, १०८

अमरकीर्ति : ५

- अमरुक : १७
- शतक : ८२, ८३
- अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी का
जर्नल : ८२
- अवधी : १०, २४, २६, १११
- अवहट्ठ : ८, ५६
- अश्वघोष : १२

आ

- आइने अकवरी : ८
- आख्यायिका : १०, ५८, ६२, ७१, ७६
- आदिकवि : १७, १०५
- आदिकाल : १, २, ९, १०, २६, ११०, १११
- आदिकालीन साहित्य : ८, २४, ४३, ४५
- आदिकाव्य : ११, ६२
- आदिग्रन्थ : ११३
- आदिनाथ उपाध्याय : ५
- आदिमंगल : ११२
- आनन्दवर्धन : ११८
- आनन्द-संवत् : ५५
- आमभट्ठ : ७
- ‘आराधना’ (पुस्तक) : ४
- बॉल्सडोफ़ (डॉ०) : ५, ४८
- बाल्हा : १०, १७, २७, ३८, ४०, १२०
- बासगु : ९

इ	कलहण : ७८ कविकल्पलता : ९१ कविवान्धव : ३६ कव्व : १०४ कस्तूरचन्द्र कासलीवाल : ५ 'काई' : २३ कादम्बरी : ५७, ६२, ६३, ७१ कामधवज : ८५ कारंजा : ५ कालामुख-सम्प्रदाय : ४० कालिदास : ९५, ९९ काव्यमीमांसा : ६० काव्यादर्श : ५८ काव्यानुशासन : ४५, ६४ काव्यालंकार : ५८, ५९ किरातार्जुनीय : ३५ कीर्तिकथा : ५८ कीर्तिकौमुदी : ७९ कीर्तिपताका : ८, १० कीर्तिलता : ८, १०, १२, १९, २२, ५८, ६३, ६४, ६६, ६८, ७९, १०० कीर्तिसिंह : १२, ७९ कुमारदेव : ३२ कुमारदेवी : ३९ कुमारपालचरित : २, ७९ कुमारपालप्रतिबोध : ३, ४ कुवलयमालाकथा : १९, २० कृष्णयमारितन्त्र : ४४ कृष्णराज : ७ केशवदास : १०३, ११० केसरिसिंह : १८ कोपकालाग्निरुद्र : ३१ कौतूहलकवि : ६२, ८३ क्षेमेन्द्र : ६१, ११६, ११७, ११८
इन्द्रियी	६७, ६८, ८२, ८३, ८४, ९५,
इन्द्रावती	९६
इब्नबूतूता	४०
उ	उ
उक्तिव्यक्तिप्रकरण	८, १८, २१, २४, ३०
उज्जयिनी-भुजंग (टिं०)	७
उड़िया	६
उदयन	५९, ७७
उदयनारायण तिवारी (डॉ०)	५६
उन्सद	१६
उपदेशतरंगिणी	३७
उपदेशरसायनरास	१०७
उपासकदशासूक्त	४४
उमापतिधर	३१
क	क
कजरीवन	८३
कड़वक	१०१, १०२, १०४
कण्ठपा	११२
कथा	१०, ५७, ५९, ६२, ६३, ६६, ७१
कथाकाव्य	५७, ६६, ७१, १०१, १०४
कथाकोश	६४
कथासरित्सागर	६१, ८१
कदलीदेश	८३
कनकामर मुनि	७
कन्ह	४३, ८४, ११०
कपर्दी	३६
कबीर	६, ११, ४७, १०३, ११०, ११२
'कबीर' (पुस्तक)	११३
कबीरग्रन्थावली	११३
करकडुचरित	५, १०३
कर्पूरदेवी	५४
कर्पूरमंजरी	१०६

ख

खड़ी बोली : २४
खुमान रासो : १०, १४
खुम्मान (द्वितीय) : १४
खुसरो : १०

ग

गंग : ११०
गजनी : १६
गर्जसिंघजीरूपक : ६६, १०८
गच्छकाव्य : ५७, ७१, ७५
गाथा (गाहा) : ९, ४५, ५६, ५८, ६७, ९७
 ९८, ९९, १००, १०१, १०६,
 ११०

गाथाकोश : ६०, ९७

गाथासप्तशती : ११९

गाहावन्ध : ९८

गीतिकाव्य : ९, ११७

गीतगोविन्द : ११६, ११७

गुणाकरसूरि : ९

गुणाढ्य : ५७, ५९, ६०, ६१

गुणे (पाण्डुरंग) : ४

गुण्डरीपा : ७

गुरुग्रन्थसाहब : ११३

गुर्जरकाव्य : १६

गुह्यक : ४४

गोगादेरूपक : ६६, १०८

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) : ४२, ८३,
 १०३, ११०

गोरक्षपा : ७

गोविन्दचन्द्र : ८, १७, २८, २९, ३०, ३३, ३९

गीरीशंकर ओझा (म० म०) : ५५

ग्यांतर्चाँतीसा : ११२

ग्रियसंन (जॉर्ज) : १, ८

घ

घत्ता : १०१, १०२, १०४

च

चउम्मुह : १०१
चण्डीदास : ११६
चतुर्दश विद्याधर : ३१
चतुर्मुख : ११, १०१
चन्द (वदायू का राठोरवंशी राजा) : ३४
चन्द (चन्दवरदाई) : ११, १५, १७, २२,
 ३२, ३८, ५५, ५६, ५७, ६७, ७१, ८७,
 ९०, ९५ १०४, १०६, ११०, ११९
चन्द (गाहड़वारवंशी राजा) : २८
चन्दधरशर्मा गुलेरी : २, ३, ४, २२, २४
चन्दमोहन घोष : ५
चन्दलेखा : ८८
चम्पू : १०, ६४, ७४, ७६
चरितकाव्य : १०, ५४, ५८, ६४, ६६, ७८,
 १०८, १०९

चर्चरी : ४, १०३, १०८, ११४, ११६

चाँचर : ११२, ११६

चारण : ८८, २४, ४३

चित्तरेखा : ८८

चिमनलाल डाह्याभाई दलाल : ४

चेदिदेश : ५४

चाँतीसा : ११५

चौरंग सन्धि : ४

छ

छहुणिआ : १०७

छर्दनिका : १०१

ज

जगदीशचन्द्र जैन : ५

जगनिक : १७, ३८

जगविलास : ६६

जज्जल : ७, १६

जयचन्द्र : १७, २९, ३४, ८६, ८७, ८८, ९२,

९३, ९४

जयचन्द्रप्रकाश : १०, १७, ३२

- जयचन्द्रसूरि : ७९
 जयदेव : ११६, ११८
 जयमयंकजसचन्द्रिका : १०, १७
 जयशेखरसूरि : ९
 जयानक : ७८
 जयानन्दसूरि : ९
 जर्नल ऑव डिपार्टमेण्ट ऑव लैटर्स : ६
 जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी : १९
 जलहण : ७८
 जसहरचरित : ५
 जसौंधी : ९३
 जहाँसोज : ३३
 जादूकुल : ८४
 जानकीभंगल : १११
 जायसी : ११, ४७, ५१, ५२, ७७, ८३, ८७,
 ९१, १०३, १०९
 जालन्धरपाद : ११२
 जावालि शृष्टि : ६३
 जिनदत्तसूरि : ७, १०३, १०७, ११४, ११६
 जिनपद्य : ७, ९, १०३, ११४
 जिनपाल : १०३
 जिनपाल उपाध्याय : ११६
 जिनप्रभसूरि : ९
 जिनवल्लभ सूरि : ९
 जिनविजयजी (मुनि) : ४, ५, ८, ५५, १०५
 जिनेश्वरसूरि : ९
 जिनोदयसूरि : ९
 जूनी गुजराती : ९
 जैकोबी : ९९
 जैन अपभ्रंश-चरितकाव्य : ११, ६४
 जैन साहित्य का इतिहास : ५, ९८, १०१
 जोइन्डु : ११०, १२०
 जोनवर : ९३
 ज्ञानकलश : ९
 ज्योतिरीश्वर : ८, १९
 ट
 टाड : ७
 टेण्टणपा : ७
 ड
 डब्ल्यू० नार्मन ब्राउन : ८१
 डाहल देश : ४०
 डिगल : १०६
 डिगल-कविता : १००
 डिगल-साहित्य : ६६
 डोम्बिका : ६५
 डोम्बिपा : ७
 ढ
 ढोला-मारू रा दोहा : ८, ९, ४९, ५२, ६४,
 ९१, १०१, १०४, १११, ११३
 ण
 णायकुमारचरित : ५, ७२, १०२, १०३
 त
 तथागत गुह्यक : ४४
 तद्दणप्रभसूरि : ९, १९
 तिल्लोपा : ७, ११०
 तिसद्विलक्षणमहापुराण : ४
 तुलसीदास (गोस्वामी) : ११, १७, २२, ५५,
 ५७, ६३, ७०, १०१, १०२,
 १०८, ११३, ११४, ११९, १२०
 थ
 थूलभहफागु : १०३
 द
 दण्डी : ३; ५७, ५९, ६२, ९९, १०१
 दलपतिविजय : १३
 दब्बसहावपयास : ९८
 दशार्णभद्रकथा : १९
 दशावतारचरित : १२, ११८

- दशावतारवर्णन : ११६, ११८, ११९
 दसौधी : ९३
 दाढ़ : ११३
 दामोदरभट्ट : ३०, ३४
 दामोदर शर्मा : ८, १८
 दारिकपा : ७
 'दीपक' : ७१, ७५
 दुर्गा केदारभट्ट : ३२
 'दूहा विद्या' : ९९
 देवसुन्दरसूरि : ९
 देवसेन : ७
 देवरक्षित : ३९
 देशभाषाकाव्य : १०
 देसलदेवी : ३५
 दोहावन्ध : ९९
 दोहावन्ध : ५७, ९८, ९९
 द्वारकाप्रसाद मिश्र : १०४
 द्व्याश्रयकाव्य : ७९
- घ
- धनपाल : ५, ७, ९, ११
 धर्म : ९
 धर्मकलश : ९
 धामपा : ७
 धीरेन्द्र वर्मा : २४
 ध्रुवक : १०१, १०४
- न
- नंमयासुन्दरिसन्धि : ४
 नन्ददास : १२
 नमिसाधु : ५९
 नयचन्द्रसूरि : २९, ३०
 नयनन्दि : ५
 नरपति : १३
 नरपति नाल्ह : १३, १४, ३६
 नरोत्तमस्वामी : ८
 नवसाहस्रांकचरित : ७८
- नागकुमार : ७२
 नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका : २, १३, २३, ४०
 नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) : २, ८९,
 ५४, ५६
- नागलदेवी : ३६
 नाट्यशास्त्र : ९९
 नाथमत : ४१
 नाथूराम 'प्रेमी' : ५, १०१
 नाराच : १०४, १०८
 निजन्धरी : १०, ११, ५९, ७७-८१
 नूरमुहम्मद : १०४
 नेमिचन्द्र भण्डारी : ९
 नेमिनाथ : १२
 नेमिनाथचरित : ४
 नेमिनाथकाङु : १२
 नैषधचरित : १८६
 नौटंकी : १०७
- प
- पंचतन्त्र : ५७
 पंचदण्ड : १४
 पउमचरित : ५
 पउमसिरचरित : १०२
 पञ्जून : ३८
 पञ्जटिका : १०१, १०२
 पद्मद्वियावन्ध : ५७, १०१-१०३
 पद्मरी : १०४, १०७
 पद्म : ९
 पद्मकीर्ति : ५
 पद्मगुप्त : ७८
 पद्मावत : ११, ६३, ७०, ८०, ८१-८३,
 ८६, १०९
 पद्मावती : ८२, ८३, ८६
 पचिनी : ८३
 परमर्दी (परमाल) : ३८
 परमात्मप्रकाश : ४, ९९, १२०

- परमार : ७, २९, ३५, ३८
 परमालरासो : १०
 परशुराम वैद्य : ५
 पल्ह : ९
 पाटण : ४
 पाणिनि : ४
 पार्वतीमंगल : १११
 पाहुडदोहा : ५, १२०
 पिंगल : ५६, १०१
 पिंगलसूत्र : १०
 पिशेल : ३, ४, ५
 पुण्डीरनी : ८९
 पुष्पयन्त : १०२
 पुराण : ५७, ६३
 पुरातनप्रवन्ध-संग्रह : ३२, ३६, ४६, ४८,
 ५५, १०५-१०६
 पुरानी हिन्दी : २, २२, २४, ४६
 पुष्पदन्त : ४, ५, ७, ११, ३९
 पुष्पभाट : ७
 पृथ्वीचन्द्र : ९
 पृथ्वीराज : १२, ३२, ३८, ४३, ५४, ६४-
 ७०, ७४, ७७, ८२, ८४-८७,
 ८९-९५, ११०
 पृथ्वीराज (प्रथम) : ३५
 पृथ्वीराजरासो : १०, १६, ४५, ५४, ५६,
 ६३-६५, ७२, ७४, ७९,
 ८०, ८६, १०३, १०५,
 १११, ११९
 पृथ्वीराजविजय : ५४, ५५, ७९, ८६, ८७
 पंजर : ८१
 पैशाची प्राकृत : ५९, ६०
 प्रकरण : ७३
 'प्रकाश' : ६६
 प्रज्ञातिलकसूरि : ९
 प्रतापचरित्र : १८
 प्रतापसिंह : १३
 प्रबन्धकाव्य : ५६, १०३, १०४, ११७
 प्रबन्धकोश : ३२
 प्रबन्धचिन्तामणि : ३, २९, ३१, ३६, ९८,
 १११
 प्रबोधचन्द्र वागची : ६
 प्रवेशक : १०७
 प्रशस्तिसंग्रह : ५
 प्राकृत : ३, ४, १०, ४५, ५७-६१, ६४,
 ९७, ९८, १००, १०६, ११०
 —साहित्य : ५९, ६०
 —कविता : ६०
 —भाषा : १००
 प्राकृतपिंगलसूत्र : ४७-५१
 प्राकृतपैंगलम् : ३, ५, १५, १६, २४, ३१
 ३३, ९९, १०६
 प्रेमकथानक : ११
 प्रेरण : ६
 प्रोषितपतिका : १४
 फ
 फारसी : ८, १००
 फेरू : ९
 व
 बँगला : ६, ८, ५०, ११६
 बंगाल एसियाटिक सोसायटी : ८, ५४, ७९
 बनर्जी : ४
 बनारसीदास (जैनकवि) : १०९
 बबुला मिथ (पं१) : ८
 बब्वर : ७, १५
 बरवै : १०४, १०९, ११०
 बावूराम सक्सेना : ८
 बारहमासा : ८१
 बालचन्द्रसूरि : ७९

विज्ञायोगिका इण्डिका : ५, १५

विहारी सतसई : ८

वीजक : ११२, ११३, ११५, ११६

बुखारा : १६

बुद्ध : ४४, ७७

बुधस्वामी : ६१

बेलि : १०२

बोधिसत्त्व : ४४

बोद्धकवि : ११, १२

बोद्धगान ओ दोहा : ६

बोद्ध धर्म : २७, ३९, ४२, ४४

बोद्ध साधना : ४१

बोद्ध सिद्ध : ६, ११, ३९, १०३, ११२, ११६

ब्रजबुलि : ६

ब्राह्मणधर्म : ३९, ४५

ब्राह्मण-साहित्य : ५९

ब्लूमफील्ड : ८१

भ

भक्तिकाल : ४४, ११९

भक्तिपूर्वकाल : ११९

भक्तिमार्ग : ४४

भक्ति-साहित्य : ४३

भट्टकेदार : १७, ३२, ३३

भण्ड : २७

भत्तर : १९

भरत : ५६

भविसयत्तकहा : ४, १२

भागवतपुराण : १८

भाणक : ६५

भाणिका : ६५

भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट : ४, ७

भादेपा : ७

भामह : ३, ५७-५९, ६३, ९९, १०१

भारतीय विद्यामन्दिर : ८

भावनासार : ४

भाषाकाव्य : ३५, ५३

भाषाविज्ञान : ५०

भाषाशास्त्र : ४५

भीम भोरंग : ८४

भीम राव : ८४

भीमविलास : ६६, १०८

भूसुकपा : ७

भोज : ३, ३५

भोजपुरी : ६, १०, ३०

भोला(रा) भीमंग : ६७, ६८

म

मंगलकाव्य : १०९, १११

मंगलमाहित्य : १११

मंजुघोषा : ७०

मगही : ६

मणिभद्र चैत्य : ४४

मणिभद्र यक्ष : ४४

मत्ता : १०७

मत्स्येन्द्र नाथ : ८३

मथुराप्रसाद दीक्षित : ५६

मदनपाल : ३४

मधुकरभट्ट : ३३

मधुमालती : १०९

मन्दाकान्ता : ९७

मयणरेहासन्धि : ४

मराठी-भाषा : ३०

महाकथा : ६१

महाकाव्य : १७

महाराष्ट्री प्राकृत : २९

महाभारत : ५७, ६२, ९७

महीपा : ७

माइलधवल : ९८, ९९

माटेरियालियन् सुर केण्टनिसडेस अपन्नंश : ३

- मॉडन वरनाक्यूलर लिटरेचर आँव नार्दन रतनविलास : ६६, १०८
 हिन्दुस्तान : १ रतनसेन : ८६
 माणिक्यराज : ५ रत्नावली : ४८, ८२, ११४
 माधोधाट : ३२ रमेनी : ११२, ११३
 मान (राजा) : ७ रम्भामंजरी : २९, ३०
 मानसोल्लास : ८ रसेश्वरमत : ३९
 मारसिंह : ७ राग—गवड़ा (गोड़) : १११
 मिश्रबन्धु : २ —धनश्री : ११३
 मिश्रबन्धुविनोद : २, १० —सूही : ११३
 मुंज : ११४ राजतरंगिणी : ७८, ८८
 मुक्तक : ९, १०१ राजपूतचित्र : ९२
 मुग्धावती : १०९ राजरूपक : ६६, १०८
 मूलराज (राजा) : २९ राजविलास : ६६, १०८
 मृगावती : १०९ राजशेखर : ३, ६०, १०६
 मेघदूत : ९७ राजशेखरसूरि : ७, ९, १२, ३२
 मेरुनन्दन : ९ राजस्थानभारती : ५६, ५७
 मैथिली : ६, ८, १० राजस्थानी-भाषा और साहित्य : ९, १३, १७
 मोतीचन्द्र (डॉ०) : १९ राजस्थानी-साहित्य : ८, १६, ५६, १०७
 मोतीलाल मेनारिया : ९, १३, १७ राज्यपाल : २८
 मोहनसिंह (कविराव) : ५६, ५७ राठोड़ां री ख्यात : १६
 य
 यक्ष : ४४ राणारासो : ६६, १०८
 यक्षकीर्ति : ५ राधासुधानिधि : १२
 यक्षकुल : ४४ रामकृष्णदेव (परमहंस) : ११
 यक्षपूजा : ४४ रामचन्द्र शुक्ल : २, ३, ५, १०, ११, १३,
 याकोबी (हरमन) : ४ १४, १५, २६, ३२, ३३,
 युवराजदेव : ४० १०८, ११७
 योगसार : १२० रामचरित (सन्ध्याकरनन्दी-कृत) : ७८
 योगिसम्प्रदायाविष्कृति : ८३ रामचरितमानस : ११, १२, ५७, ६३, ८७
 योगीन्द्र : ७ रामपाल : ३९, ७८
 र
 रझू : ५ रामसिंह (मुनि) : ७, ८, ११०, १२०
 रहु : १०७ रामाक्रीड़ : ६५
 रणमल्ल रासो : १०८ रामायण (स्वयम्भू-कृत) : ७, १२
 रतनरासो : ६६, १०८ —आदिकाव्य : ६२, ९७

- रावरिणमलस्पक : ६६, १०८
 रासपंचाध्यायी : १२
 रासलीला : ७
 रासोवन्ध : १०८
 रासोसार : ६७, ६९
 राहुल सांकृत्यायन : ५, ६, ७, १२, १५,
 २४, ३४
 रुद्रट : ३, ५९, ६१, ७१
 हृददामा (महाक्षत्रण) : ५७
 रूपक : ६६, ७१, ७५, १०८
 रोला : १०४
 ल
 लक्खन : ७, ११४
 लम्भ : ५८
 ललितविग्रहराज : ३५
 ललितविस्तर : ४८
 लालचन्द्र गान्धी : ५
 लीलावती : ६२, ६४, ६७, ८३
 लुइपा : ७
 लोकगीत : ११०, १११
 लोकभाषा : ९७, ११६
 लौकिक कथा : ६२
 लौकिक संस्कृत : ९७, ९८, ११०
 व
 वज्रपाणि वोधिसत्त्व : ४४
 वज्रपाणि यक्ष : ४४
 वज्रयान : ४२, ४४
 वज्रसेन सूरि : ९
 वर्णरत्नाकर : ८, १९, ९९
 वसन्तपाल : ३५
 वसन्तविलास : ७९
 वसुदेवहिण्डी : ५९
 वस्तिग : ९
 वाणभृत : ५७, ५९, ७१, ७५, ७६,
 ८२, १०१, ११४
 वादिदेवसूरि : ९
 वामवदना : ५७
 विक्रमांकदेवचरित : ७८, ८८
 विक्रमादित्य (चालुक्य) : ८८
 विक्रमादित्य (साहमांक) : ५९, ७७, ८८
 विक्रमोर्वशीय : ३, ९८, ११
 विग्रहराज : ३६
 विजयचन्द्र : ७, १६
 विजयचन्द्रसूरि : ९
 विजयगाल (गुहिलवंशी) : २३
 विजयगालरामो : १०, ११
 विजयसिंह : २३, ८४
 विजयसेन : ४२
 विजयसेनसूरि : ९
 विजैविलास : ६६, १०८
 विद्याधर : ७, १५, ३१, १२, ३४
 विद्यापति : ८, १२, १९, ४२, ५७, ६४
 ६६, ६८, १००, ११६
 —पदावली : १०, ११
 विनयमंगल : ७०, १११, ११९
 विनयप्रब्र : ९
 विप्रमतीसी : ११२
 विरहांक : १०७
 विरहुली : ११२
 विरुद्धा : ७
 विल्हण : ७८, ८८
 वीरकाव्य : ५६
 वीरगाथा : २४, १०८
 —काल : १०, १३, १५, १६, १७
 वीरचन्द : ८६
 वीररम : १५, २४, ९४
 वीसलदेव चतुर्थ (विग्रहराज) : ३५, ३६, ३७
 वीसलदेवरामो : १०, १३, १४, ३५, १०८
 वूलर (डॉ०) : ५४
 वृहत्कथा : ५७, ५९, ६१, ६२

- वृहत्कथामंजरी : ६१
 वृहत्कथाश्लोकसंग्रह : ६१
 वेणीसंहार : ११८
 वेतालपंचविंशति : ३, ६४
 वेनिफी : ८१
 वैष्णवकवि : ६
 वैष्णवधर्म : १२, ४२
 वैष्णवपदावली : ६
 व्यासदेव : ९७
 व्रजस्वामिचरित्र : ४
- श
- शकुन्तलानाटक : ११५
 शशिव्रता : ८४, ८७, ९१
 शांकरमत : १८
 शाकम्भरी : ३५, ५१
 शान्तिपा : ७
 शान्तिविजय : १३
 शार्ङ्गधर : २, १५
 —पद्धति : ३
 शालिभद्र : ७
 शालिभद्रसूरि : ९
 शास्त्री : ४
 शाहरयण : ९
 शिलालेख-गिरनार : ५७
 —दमोह : २३, ५५
 —प्रद्युम्नेश्वर का मन्दिर : ४२
 —मलकापुरम् : ४०
 —हेलीकेरटी : ७
 शिवसिंह : १, ७, १०४, ११०
 शिवसिंहसरोज : १५, ३३
 शुक्रसप्तति : ६४
 शैवमत : ४०, ४१
 शैवसाधना ; ४०
 श्यामलदास : १०४
 श्रीकृष्णलाल (डॉ) : ६३
- श्रीचन्द : ५
 श्रीघर : ५
 श्रीहर्ष : १, १०१
 श्रीहर्षदेव : २५, ८२, ८३, ११४
 श्रुतकीर्ति : ५
- स
- संगतसिंहरासो : ६६, १०८
 संग्रामसिंह : ९
 संयुक्तनिकाय : ४४
 संयोगिता : ६७, ६८—७०, ८२, ८४, ८६
 ८८, ९४, ९५, १११
 संस्कृत-गाथा : ४८
 संहिता : ४३
 सईफुद्दीन : ३३
 सटृक : ७३, १०६, १०७
 सण्कुमारचरित्र : ४
 सत्तसई : ६०, ९७
 सद्भावशम्भु : ४०
 सन्देशरासक : ४, १०, १२, ४५, ४७—५२,
 ६५, ८८, ९१, ९५, १०७,
 १०८, ११०
 सन्ध्याकरनन्दी : ७८
 सबरण : ७
 सम्पूर्णानन्द-बभिनन्दन-ग्रन्थ : १९
 सरस्वतीकण्ठाभरण : ३
 सरहपा : ७, १०३, १०४, ११०
 सलय : ८४
 सहजयानी : ३९
 साखी : ११२, ११३, ११५, ११९
 साधु हंस : ९
 सामन्तसिंह : ४५
 सारमूर्ति : ९
 सावयद्यमदोहा : ५
 सिंधायच द्यालदास : १६
 सिंहासनद्वार्तिशतिका : ३

सिद्ध : २४

सिद्धसामन्त-काल : २४

सीयक : ७

सुनीतिकुमार चटर्जी (डॉ०) : ८, १९

सुवन्धु : ७१

सुवाहु : ५७, ५९

सुमतिगणि : ७०

सुमन्त मुनि : ९

सुरथोत्सव : ७९

सुलसांख्यान : ४

सूफी : ११, ११५

सूफी कवि : ४०, ६४, ११०

सूरदास : २२, १०४, ११३, ११४, ११७

सूरसागर : १२, ११७

सूरसाहित्य : १०४

सूर्यकरण पारीक : ८

सोमदेव : ३५, ६१

सोमपालविलास : ७८

सोमप्रभ : ७, ११४

सोममूर्ति : ९

सोमेश्वर : ५४, ७९

सोहर : १०९, ११०

स्त्रीदेश : ८३

स्मार्त : ४३

स्मार्तधर्म : ४१, ४४

स्मार्तमत : ३९, ४३

स्मृति : ४३

स्मृति-साहित्य : १७

स्वयम्भू : ५, ७, ११, १२, ३९, १०१, १०७

स्वयम्भूद्धन्दस : १०७, १०८

ह

हम्मीर : १६, ३५

हम्मीरकाव्य : १५

हम्मीरगयरा (रासो?) : १५

हम्मीररासो : २, १०, ११, १५, १६

हरकेलिनाटक : ३५

हरप्रसाद शास्त्री (म० म०) : ५, ८

हरिब्रह्मा : ७

हरिभद्र : ७

हरिवंशपुराण : ५, १०१

हरिवल्लभजी भायाणी : १०७

हरियेण : ६४

हर्ष (कश्मीर) : ८८

हर्षचरित : ६२, ७५, ७६

हर्षराज : २३

हल्लीस : ६५

हाल : ३, ६०, ७७, ९७

हिंगलाज : ४४

हिंडोला : १०२

हितहरिवंश : १२

हिन्दी-काव्यधारा : ७

हिन्दी-भाषा का इतिहास : २४

हिन्दी-शब्दसागर : २

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल : १०

हिन्दी-साहित्य का इतिहास : १, २, ३

हिन्दी-साहित्य की भूमिका : ११८

हीरालालजी जैन : ५, २३, ४०

हेमचन्द्र : १, २, ३, ७, ९, ३९, ४५—५२,

६४, ६६, ७१, ७९, ९८, ९९, १०१

१०१

